भारतीय ज्योतिःशास्त्र में आचार्य वराहमिहिर का योगदान

इलाहाबाद युनिवर्सिटी की डी० फिल० उपाधि
हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

प्रस्तुतिकर्ता

गिरजा शंकर एम० ए० ज्योतिषाचार्य

निर्देशक

डॉ सुरेश चन्द्र पाण्डे

प्रोफेसर

संस्कृत–विभाग

इलाहाबाद युनिवर्सिटी

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद-युनिवर्सिटी

१९८७

पूर्वपीठिका

पूर्वपीठिका

ज्योतिष शब्द द्युत् दीप्तौ धातु से `द्युतेरिसिन्नादेशश्च जः' सूत्र से इसिन् प्रत्यय पुन: दकार को जकार आदेश तथा `पुगन्तलघुपधस्य' सूत्र से गुणादेश होकर निष्पन्न होता है । अत: ज्योतिषशास्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें आकाशीय ग्रहों, नक्षत्रों एवं राशियों की गतियों का वर्णन तथा पृथवीवासियों पर होने वाले उनके शुभाशुभ फलों का वर्णन हो । अथवा द्युत् दीप्तौ धातु से निष्पन्न होने के कारण ज्योतिषशास्त्र को प्रकाशशास्त्र भी कहा जाता है , कतिपय विद्वानों ने ज्योतिषशास्त्र की व्युत्पत्ति `ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रम्' की है । अर्थात् सूर्यादि ग्रह और काल का बोध कराने वाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है । वस्तुत: जिस शास्त्र के माध्यम से व्यक्ति भूत, वर्तमान एवं भविष्य का ज्ञान करता है उसे ज्योतिषशास्त्र की संज्ञा प्रदान की गयी है । ज्योतिष के सम्यक् अर्थों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों ने कहा है कि उस व्यक्ति का जीवन अन्धकारमय है, जिसे अपने जन्मसमय के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है । कहा गया है कि उस व्यक्ति का जीवन ठीक उसी प्रकार अन्धकारयुक्त है जैसे रात्रि के समय में दीप-विहीन भवन ।

षट् वेदाङ्गों में ज्योतिषशास्त्र को वेदपुरुष का नेत्र कहा गया है । मनीषियों ने शब्दशास्त्र को वेदभगवान का मुख,ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को कान, कल्प को दोनों हाथ शिक्षा को नासिका तथा छन्दस् शास्त्र को दोनों पैर बताया है जैसा कि भास्कराचार्य जी का भी कथन है --

> शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी श्रोतमुक्तं निरुक्तं च कल्प: करौ ।
> या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधै: ।।

जिस प्रकार कोई भी प्राणी सावयव होने पर भी यदि नेत्ररहित है तो वह

जीवन की सच्ची अनुभूति नहीं कर सकता है । ठीक उसी प्रकार शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द: और व्याकरणशास्त्र में निष्णात् कोई भी विद्वान् यदि ज्योतिष ज्ञान से अपरिचित है तो वह उस नेत्रविहीन प्राणी की भांति वैदिक कार्यों में सर्वथा अन्धा रहता है । वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार जिस प्रकार मयुर की शिखा उसके सिर पर रहती है, सर्प की मणि उसके मस्तक पर रहती है ठीक उसी प्रकार षट्वेदाङ्ग के मध्य ज्योतिषशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ स्थान है ।

ज्योतिषशास्त्र का सुव्यवस्थित इतिहास आचार्य वराहमिहिर के समय से प्राप्त होता है । किन्तु वराहमिहिर से पुर्व सूर्य, पितामह, व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अङ्गिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु तथा शौनकादि अष्टादश प्रवर्तक माने गये हैं । सर्वप्रथम वैदिककाल में ज्योतिषशास्त्र का उपयोग यज्ञों के सम्पादन में समय शुद्धि के लिये किया जाता था । यज्ञों की सफलता केवल वैदिक विधान आदि से नहीं अपितु उचित तिथि, नक्षत्र, वार योग एवं करणादि में करने से ही होती है । वैदिक साहित्य में ग्रह शब्द के व्यापक प्रयोग को देखकर ही पाश्चात्य विद्वान् वेबर आदि विद्वानों की धारणा है कि सर्वप्रथम भारत में ही ग्रहों का आविष्कार हुआ होगा क्योंकि अधिकांश ग्रह नक्षत्रों के नामों की व्युत्पत्ति भारतीय परम्परा से सम्बद्ध है ।

छान्दोग्य उपनिषद् में आख्यात है कि महर्षि नारदजी ने एकबार सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर ब्रह्मविद्या के अध्ययन की इच्छा प्रकट की । ऋषि सनत्कुमार द्वारा नारद मुनि से यह पूछे जाने पर कि वे अबतक कौन-कौन सी विद्याएं पढ़ चुके हैं । नारदमुनि ने अपनी अधीत विद्याओं में नक्षत्र विद्या और राशि विद्या का भी नाम लिया । मुण्डकोपनिषद् के एक प्रसङ्ग से यह ज्ञात होता है कि गणित और ज्योतिष

आदि लौकिक ज्ञान से सम्बद्ध विषय भी आध्यात्मिक ज्ञान में सहायक समझे जाते थे और इसीलिए प्रत्येक ब्रह्मजिज्ञासु को इसका अध्ययन करना आवश्यक माना जाता था। पतञ्जलि ने `महाभाष्य` में कहा है कि वेदाङ्ग का अध्ययन करना ब्राह्मणों का निष्कारण धर्म है। `ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च` । वेदाङ्गज्योतिष के अनुसार तो जो व्यक्ति ज्योतिषशास्त्र को भलीभांति जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ।।

प्राचीनकाल (नारद संहिता के समय) से ही ज्योतिष शास्त्र के मुख्य तीन अङ्ग माने गये हैं। जैसा कि आचार्य वराहमिहिर ने भी बृहत्संहिता में लिखा है कि अनेक भेदों से युत ज्योतिषशास्त्र के मुख्य तीन स्कन्ध हैं।

१- सिद्धान्त (तन्त्र) अथवा गणित ।
२- होरा (जातक) अथवा फलित ।
३- संहिता ।

प्रथम भेद में गणित सम्बन्धी बातें आती हैं, जैसे कितने दिनों का महीना होता है, कितने महीनों का वर्ष होता है, वर्ष में कितने दिन होते हैं, सूर्य का दक्षिणायन या उत्तरायण अमुक दिन से कितने दिनों बाद होगा, अमुक ग्रह अमुक दिन कहां रहेगा, ग्रहण कब होगा इत्यादि। इसके अतिरिक्त गणित स्कन्ध के ग्रन्थों में सिद्धान्त तन्त्र और करण तीन भेद हैं। करण ग्रन्थ में केवल ग्रह गणित रहता है जैसे ग्रहलाघव इत्यादि। सिद्धान्त शिरोमणि में सिद्धान्त का लक्षण करते हुए भास्कराचार्य ने लिखा है कि --

युदयादि प्रलयान्तकालकलना मान प्रभेद स्तथा,
चारश्च धुसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तरा: ।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितेश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते
सिद्धान्त: स: उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधै: ।।
(सिद्धान्तशिरोमणि मध्यमाधिकार)

कुछ विद्वानों का मत है कि जिसमें ग्रहगणित का विचार कल्पादि से हो वह सिद्धान्त, जिसमें युग के आरम्भ से हो वह तन्त्र और जिसमें किसी निश्चित समय से गणना की गयी हो वह करणग्रन्थ कहा जाता है ।

द्वितीय भेद में होरा सम्बन्धी विषयों का वर्णन मिलता है । किसी व्यक्ति की जन्मकालीन तथा अन्य समयों की ग्रहस्थिति के अनुसार उसके जीवन में होने वाले सुख दु:ख का विचार किया जाता है । किसी भी जातक के जन्मकालीन लग्न द्वारा उसके जीवन के सम्पूर्ण सुख-दु:खों का निश्चय पहले ही कर देना होरा स्कन्ध का सामान्यत: मूल स्वरूप है । होरा स्कन्ध का ही दूसरा नाम पहले जातक था । आगे चलकर इसके दो विभाग हो गये । उपर्युक्त विषय जिस अङ्ग में आया उसे जातक कहने लगे और दूसरा अङ्ग ताजिक हुआ । किसी मनुष्य के जन्मकाल से आरम्भ कर जिस समय सौरवर्ष की कोई संख्या समाप्त होकर नवीन वर्ष लगता है उस समय के लग्न द्वारा उस वर्ष के सुख दु:ख का निश्चय करना सामान्यत: ताजिक का मुख्य विषय है ।

तृतीय भेद में संहिता का स्थान है । ग्रहण, केतु तथा ग्रह युद्धादिकों द्वारा जगत् के शुभाशुभ का ज्ञान और अमुक दिन विवाहादि कर्म करने से शुभ या अशुभ फल होंगे इत्यादि बातें इस भेद में आती हैं । आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के उपनयनाध्याय में कहा है कि गणित एवं फलित के मिश्रित रूप को अथवा जिस ग्रन्थ में ज्योतिषशास्त्र के सभी

फलों पर विचार किया जाता है उसे संहिता ज्योतिष कहते हैं । संहिता के विषय में प्रायः सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं । सामान्यतः संहिता के दो अङ्ग हो सकते हैं । एक तो वह जिसमें ग्रहचार अर्थात् नक्षत्र मण्डल में ग्रहों के गमन और उनके परस्पर युद्धादि के धूमकेतु, उल्कापात और शकुनादिकों के द्वारा राष्ट्र के लिए शुभाशुभ फल का विवेचन होता है तथा दूसरे अङ्ग में मुहूर्त आदि का वर्णन प्राप्त होता है । बृहत्संहिता से विदित होता है कि उस समय तक दोनों अङ्गों का महत्व समान था, किन्तु बाद में चलकर प्रथम अङ्ग का महत्व कम होने लगा तथा दूसरा अङ्ग प्रधान हो गया । यही कारण है कि आचार्य वराहमिहिर के पश्चात् अद्यावधि पर्यन्त कोई भी आचार्य संहिता ज्योतिष पर अपनी लेखनी नहीं उठायी । मुहूर्त ग्रन्थों में बृहत्संहिता के कुछ विषय प्राप्त अवश्य होते हैं पर वे गौण रहते हैं । प्रधानता मुहूर्त की होती है ।

ज्योतिष सम्बन्धी लग्न, ग्रहों, राशियों, नक्षत्रों, द्वादश मासों, अधिकमास, ग्रहणादि विषय, उल्कापात, ग्रहों के द्वारा जन्मराशि का वेध, ग्रहों की उच्चता, नीचता तथा ग्रहों की परस्पर मित्रताशत्रुता इत्यादि विषयों का वर्णन वैदिक काल से ही प्राप्त होने लगता है । ऋक् संहिता में कहा गया है कि सत्यभूत (सूर्य) का बारह अरों वाला चक्र द्युलोक के चारों ओर सतत भ्रमण करते हुए भी नष्ट नहीं होता है । यहां बारह अरों से सम्भवतः बारह महीनों का संकेत है ।

द्वादशारं न हि तज्जरायवर्वीर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ।
(ऋक् संहिता १। १६४ । ११)

इसके अतिरिक्त वेद में वर्णित अनेक ज्योतिषसम्बन्धी विषयों को शंकरबाल कृष्ण दीक्षित ने अपने भारतीय ज्योतिष में वर्णन किया है ।

वाल्मीकीय रामायण में भी ज्योतिष का वर्णन अनेक

स्थलों पर प्राप्त होता है । वास्तु, शकुन, मुहूर्त ग्रहों की उच्चता, नीचता, ग्रहों के परस्पर युद्ध तथा क्रूर ग्रहों के वेध इत्यादि विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्राप्त होता है । एक स्थल पर राजा दशरथ राम से कहते हैं कि हे राम कोई महान संकट आने वाला है क्योंकि दैवज्ञों का कथन है कि सूर्य, मङ्गल और राहु एक साथ मेरे जन्मनक्षत्र का वेध करने वाले हैं ।

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणैर्ग्रहैः ।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारक राहुभिः ।।
(वाल्मीकि रामायण)

इसके साथ ही साथ वाल्मीकि ने राम आदि चारों भाईयों की कुण्डलियों का भी वर्णन किया है ।

वाल्मीकीय रामायण के अतिरिक्त महाभारत तथा अष्टादश महापुराणों में भी ज्योतिषशास्त्र का पर्याप्त वर्णन मिलता है । महाकवि कालिदास, शूद्रक, अश्वघोष, बाणभट्ट तथा श्रीहर्ष इत्यादि कवियों ने अपने ग्रन्थों में ज्योतिष के विविध पक्षों को स्थान दिया है। महाकवि कालिदास ने रघु के जन्म समय का वर्णन करते हुए तात्कालिक पांच ग्रहों की उच्चता जो कि उस समय रघु के भाग्यसम्पदा को सूचित कर रही थी का वर्णन किया है ।

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचित भाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समयेशचीसमा त्रिसाधनाशक्तिरिवार्थमक्षयम् ।।
(रघुवंश) इत्यादि

आचार्य वराहमिहिर से पूर्व ज्योतिर्षशास्त्र का पूर्ण प्रचार एवं प्रसार था । स्वयं वराहमिहिर ने रोमक, पौलिश, वशिष्ठ, सौर

एवं पैतामह पांचो सिद्धान्तों का संकलन पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में किया । काल क्रम के अनुसार आर्यभट के पूर्व ज्योतिष के आचार्यों का इतिहास प्राप्त नहीं होता है । किन्तु आर्यभट के समय से ज्योतिषज्ञों का इतिहास मिलता है । आर्यभट (३९८ शक) ने अङ्कगणित (पाटी गणित) बीजगणित का नवीन सिद्धान्त, भूमिति, त्रिकोणमिति, पृथ्वी की दैनन्दिनगति तथा पृथ्वी के व्यास एवं परिधि का सूक्ष्म विवेचन किया । आर्यभट के पश्चात् आचार्य वराहमिहिर कल्याण वर्मा, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य, गणेशदैवज्ञ तथा कमलाकरभट्ट इत्यादि ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् हुए, किन्तु वराहमिहिर को छोड़कर आज तक अन्य किसी भी आचार्य की सामर्थ्य नहीं हुई जोकि ज्योतिषशास्त्र के तीनों स्कन्धों पर अपना पृथक् ग्रन्थ लिखता ।

मनुष्य के जीवन पर आकाशस्थ ग्रहों का प्रभाव पड़ता है इस विषय में आज भी बहुत से महापुरुष सन्देह करते हैं । उनका कथन होता है कि आकाशस्थ ग्रह कभी मानव जीवन को प्रभावित नहीं करते । परन्तु उनका यह कथन सर्वथा असमीचीन है । क्योंकि प्राय: देखा जाता है कि कुशल ज्योतिषी आज भी शरीराकृतियों को देखकर ठीक-ठीक लग्न का निर्णय कर लेते हैं । यही नहीं कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो हस्तरेखाओं से ग्रहों के अंश तक बता देते हैं । शंकरबालकृष्ण दीक्षित ने तो लिखा है कि उनके समय में पटवर्धन नाम का एक दक्षिण भारतीय (ज्योतिषी) पिता के शरीर लक्षणों को देखकर पुत्र तक की कुण्डली बना देता है । इस विषय में तो इतिहास साक्षी रहा है कि कितने निर्धन, भिक्षावृत्ति वाले व्यक्ति सार्वभौम सम्राट तक हुए हैं । किसी भी जातक की कुण्डली में यदि चार या पांच ग्रह अपने परमोच्चराशि में या उच्चराशि में बैठे हों तथा वे ग्रह नीच नवांश में, सूर्य के सानिध्य से अस्त, अथवा वक्रत्व आदि दोषों से युक्त न हों तो ऐसा कौन जातक है जो भिक्षा वृत्ति करता हुआ दर-दर

भटक रहा हो । चार ग्रह यदि एकत्र होकर लग्न, पंचम, नवम इत्यादि भावों में से किसी एक भाव में स्थित हों तो ऐसा जातक यदि दासी का पुत्र भी है तो भी निश्चित ही राजा के तुल्य होता है । यदि राजकुल में उत्पन्न हुआ हो तो उसके लिए कहना ही क्या है । इसी तरह किसी भी जातक की कुण्डली में यदि कालसर्प योग है और उसमें किसी भी शुभ ग्रह के प्रभाव में लग्न अथवा लग्नेश नहीं है अथवा पापग्रह लग्न या लग्नेश को पीड़ित कर रहा हो तो ऐसा कौन जातक है जो दुर्घटना हत्या या अपमृत्यु का शिकार न हुआ हो । ऐसा कौन जातक है जो अभुक्त मूल में जन्म लेने पर भी मातृपितृ सुख का अनुभव करता हुआ प्रसन्नता में जीवन-यापन कर रहा हो । कुछ नक्षत्र जैसे कृत्तिका, मूल, मघा, विशाखा, आश्लेषा, रेवती, आर्द्रा आदि नक्षत्रों में सर्पदंश से पीड़ित मनुष्य की यदि साक्षात् गरुड जी भी रक्षा करें तो भी वह व्यक्ति निश्चित ही मृत्यु को प्राप्त होता है । यथा --

> यः कृत्तिकामूलमघाविशाखासार्पान्तिकार्द्रासुभुजङ्गदष्टः ।
> स वैनतेयेन सुरक्षितोऽपि प्राप्नोतिमृत्योर्वदनं मनुष्यः ।।

आचार्यों का मत है कि छठे भाव में चन्द्रमा, आठवें भाव में सूर्य,बारहवें भाव में शनि तथा दूसरे भाव में यदि मंगल बैठा हो तो इस योग में यदि साक्षात् भगवान भास्कर भी उत्पन्न हों तो वे भी निश्चित रूप से अन्धे होंगे ।

जन्म से मृत्यु पर्यन्त भविष्य का इतिवृत्त फलित ग्रन्थों से ज्ञात किया जा सकता है । ग्रन्थों में वर्णित ग्रहों के फल प्रायः ठीक ही घटित होते हैं । किन्तु कभी-कभी ग्रहों के अंश, दृष्टि तथा भावेश के तारतम्यानुसार फल कुछ परिवर्तित होकर घटित हो जाते हैं । ऐसे अवसरों पर लोगों को ज्योतिषी के ऊपर अविश्वास करना चाहिए, न कि

ज्योतिष शास्त्र पर । क्योंकि ऐसे स्थलों पर ज्योतिषियों को सूक्ष्म-रीति से अध्ययन करके ही फलादेश करना चाहिए । शीघ्रता करने से प्राय: फलादेश दोषपूर्ण हो जाता है ।

ज्योतिष की आवश्यकता सभी को पड़ती है विशेष करके सन्ध्यावन्दन करने वाले ब्राह्मणों पुजारियों को पड़ा करती है । यही नहीं यज्ञ, अनुष्ठान इत्यादि क्रियाएं तो बिना शुभ मुहूर्त के सम्पन्न ही नहीं होतीं । मनुष्य के दैनिक जीवन में भी ज्योतिषशास्त्र का बहुत बड़ा योगदान है । शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द तथा व्याकरणादि शास्त्रों के ज्ञान के बिना भी किसान अपना कृषि आदि कार्य आसानी से कर सकता है, किन्तु ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान के बिना वह अपने कृषि आदि कार्य सरलता से नहीं अपितु कठिनाई से भी नहीं कर सकता है । आज भी गांवों में 'नक्षत्र से खेती' की उक्ति चरितार्थ होती देखी जा रही है । कृषक विशेष रूप से यह जानना चाहता है कि वृष्टि कब होगी, खेतों के बोने का समय आ गया अथवा नहीं । क्योंकि प्राय: देखा जाता है कि निश्चित नक्षत्र से थोड़ा सा भी आगे पीछे खेतों में बीज बोने से किसान की फसलें तैयार नहीं हो पाती हैं । अत: कृषक की खेती के लिए भी ज्योतिषशास्त्र का महत्वपूर्ण योगदान है ।

त्रिस्कन्ध ज्योतिर्विद आचार्य वराहमिहिर ने तो जिन व्यक्तियों की जन्मपत्रिका नहीं बनी है, जिनके जन्म का समय अज्ञात है, अर्थात् जिसे अपने जन्म का वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्रादि ज्ञात नहीं है, उसके लिए प्रश्न समय को ही इष्ट मानकर नष्ट जातक को स्पष्ट करके उनके शुभाशुभ भविष्य का फल बताया है । भृगुसंहिता रावण संहिता आदि ग्रन्थ तो व्यक्तियों के आगामी (मरणोपरान्त) जन्म तक की सूचना दे देते हैं । केवल चन्द्रमा पर ही शोध करने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि चन्द्रमा के प्रभाव के कारण ही समुद्र

में एक निश्चित समय पर ज्वार भाटा आता है । यदि चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र में ज्वार आ सकता है तो वैसे ही तत्वों की रचना मानव शरीर में भी होने के कारण यदि उस चन्द्रमा का प्रभाव मानव शरीर में पाये जाने वाले जल तत्वों पर अथवा मानव मन पर पड़ता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है । प्राचीन और आधुनिक सभी ज्योतिषाचार्यों ने चन्द्रमा को मन का कारक माना है । "आत्मारवि: शीतकरश्चेत: तथा कालात्मादिन-कृन्मनश्च हिमगु: ।" आदि अतएव यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राणियों की मानसिक स्थिति के सन्तुलन अथवा असन्तुलन का कारण चन्द्रमा ही है ।

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि पूर्णिमा के आसपास विक्षिप्तों की संख्या अधिक हो जाती है तथा उनमें पागलपन अधिक मात्रा में पाया जाने लगता है । पूर्णिमा की अपेक्षा अन्य दिनों में उनकी गतिविधियां सामान्य रहती है । ब्रिटेन के पुलिस अधिकारियों ने कुछ वर्षों के रिकार्ड को देखते हुए इस बात को स्वीकार किया है कि पूर्णिमा के आस-पास अपराध अधिक मात्रा में होते हैं । चन्द्रमा के साथ ही साथ अन्य सभी ग्रहों का प्रभाव सांसारिक जीवों पर इसी प्रकार बराबर पड़ता रहता है ।

ज्योतिषशास्त्र एक पूर्ण विज्ञान है -- यह निर्विवाद सिद्ध है । अकेले वराहमिहिर ने ही अपने ग्रन्थ बृहत्संहिता में भूगोल,लक्षणशास्त्र, वज्रलेप (पलस्तर), वास्तुकला, शिल्प विज्ञान, आयुर्वेद, वनस्पति विज्ञान, धातु विज्ञान, यन्त्र विज्ञान, इन्जीनियरिंग आदि अनेक विषयों को सन्निहित किया है । वज्रलेप की विधि बताते हुए लिखा है कि इस विधि से बनाये हुए वज्रलेप को जो घरों या मन्दिरों पर लेप करते हैं, उनका गृह मन्दिर उसी रूप में एक करोड़ वर्ष पर्यन्त रहता है ।

ज्योतिषशास्त्र की महत्ता प्रतिपादित करते हुए आचार्य

वराहमिहिर ने लिखा है कि जो लोग वन में निवास करते हैं, सांसारिक विषयभोगों से निर्मुक्त (ममत्वरहित) हैं, तथा किसी से कुछ भी लेने की इच्छा नहीं रखते, वे भी गुहनक्षत्रवेत्ता ज्योतिषियों से प्रश्न पूछते हैं। बिना ज्योतिषी के राजा उसी प्रकार अन्धे के समान मार्ग में अवस्थित है जैसे कि बिना दीपक के रात्रि तथा सूर्य के बिना आकाश है। यदि ज्योतिषी न हों तो मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र, ऋतुएं तथा अयनादि व्याकुल हो उठें अर्थात् सब विषय उलट पुलट हो जाय। देश काल परिस्थिति को जानने वाला एक दैवज्ञ जो काम करता है, वह एक हजार हाथी तथा चार हजार घोड़े नहीं कर सकते हैं। राजा को आदेश देते हुए वे कहते हैं कि जय की इच्छा रखने वाले राजा को होरा, गणित, संहिता इन तीनों स्कन्धों को अच्छी तरह जानने वाले दैवज्ञों की पूजा करनी चाहिए। दैवज्ञों को भी निर्देश देते हुए वे कहते हैं कि जो दैवज्ञ शास्त्र को अच्छी तरह जानता हो, छाया जलयन्त्र आदि साधनों के द्वारा लग्न का ज्ञान रखता हो तथा फलित शास्त्र को अच्छी तरह जानता हो, ऐसे गुण-सम्पन्न वक्ता की वाणी कभी भी वन्ध्या अर्थात् निष्फल नहीं होती। ज्योतिषशास्त्र के महत्व के प्रति अपनी गर्वोक्ति रखते हुए आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि तैरता हुआ मनुष्य हवा के वेग से समुद्र को पार कर सकता है, किन्तु काल-पुरुष संज्ञक ज्योतिषशास्त्ररूप महासमुद्र को ऋषि-मुनियों के अतिरिक्त मनुष्य मन से भी पार नहीं कर सकता है। आचार्य मिहिर ने राजाओं के दरबार में कुशल ज्योतिषियों की नियुक्ति की भी चर्चा किया है।

ज्योतिषशास्त्र ग्रन्थों का प्रणयन तो पर्याप्त रूप में किया गया है, जो कि शास्त्र की चिन्तन धारा को सतत सम्वर्धन प्रदान करते रहे हैं। परन्तु इन ग्रन्थों में दिग्दर्शित प्राचीन भारतीय जीवन एवं अन्यान् सांस्कृतिक परम्पराओं को समझना एवं उन्हें क्रमबद्धरूप में व्याख्यायित करने का बहुत कम प्रयास किया गया है। अभी तक कतिपय विद्वानों ने ज्योतिष शास्त्र के विभिन्न पक्षों पर अपने शोधप्रबन्धों के माध्यम से प्रकाश डालने का

प्रयास अवश्य किया है, परन्तु ये प्रयास इस महान् प्राच्य शास्त्र के विपुल वाङ्मय एवं स्वास्थ्य चिन्तनधारा को देखते हुए अत्यल्प प्रयास कहा जा सकता है । अस्तु ज्योतिष शास्त्र के गणित-फलित-संहिता इन तीनों स्कन्धों में शोध की महती आवश्यकता को आत्मसात करते हुए इस शोध प्रबन्ध में यथासम्भव अनेक नवीन तथ्यों एवं ज्ञात तथ्यों के नूतन विश्लेषण का प्रयास किया है । यह प्रयास वर्तमान वैज्ञानिक खोजों को भी यथासम्भव आधार बनाकर किया गया है ।

उपर्युक्त शोधप्रबन्ध के प्रणयन में समस्त प्राच्य ऋषियों, रचनाकारों एवं मनीषियों के प्रति कृतज्ञ हूं, जिनके ग्रन्थों के आधार पर इस शास्त्र चिन्तन का आधार प्राप्त हो सका । उन सुचिन्त्य शोधकर्ता विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञ हूं जिनके ग्रन्थों अथवा लेखों से प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का वर्तमान प्रबन्धन सम्भव हो सका है । पूज्य पिताजी पं० बद्रीप्रसाद उपाध्याय जो कि हमारे ज्योतिषशास्त्र के आदि गुरु भी हैं । जिनके मृदुल स्नेह एवं सतत आशीर्वाद से शास्त्रचिन्तन परम्परा में मेरा प्रवेश हुआ तथा प्रस्तुत शोधप्रबन्ध भी जिनके कृपा का प्रसाद है । सर्वप्रथम मैं उन प्रात: स्मरणीय पूजनीय पिताजी के चरणों में बारम्बार प्रणाम करता हूं । पुन: अपने आचार्यप्रवर गुरुवर्य श्रद्धेय डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय के प्रति विशेष कृतज्ञ हूं, जिनके उपनिषद् में यह शोधप्रबन्ध प्रस्तुत हो सका है । प्रो० पाण्डेय की सतत कृपादृष्टि उनकी ज्ञानवृष्टि एवं मार्गदर्शन मेरे जीवन में अध्यवसाय एवं शास्त्रचिन्तन की जिज्ञासा जागृत करने में विशेष उल्लेखनीय रहा है । अत: मैं पुन: उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं । संस्कृत विभाग के अध्यक्ष डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव एवं विभाग के समस्त गुरुजनों के प्रति मैं कृतज्ञ हूं जिनके सम्यक् अध्यापन एवं यथासम्भव प्रेरणा से मुझे अपने शोध-कार्य में सहायता प्राप्त हो सकी है ।

आचार्य डा० जयशङ्कर त्रिपाठी संस्कृत-विभागाध्यक्ष ईश्वर-

शरण डिग्री कालेज इलाहाबाद, श्री हीरा प्रसाद पाण्डेय ज्योतिष विभागाध्यक्ष श्री रामदेशिक संस्कृत महाविद्यालय दारागंज, तथा पं० उमराव पाण्डेय ज्योतिष विभागाध्यक्ष धर्मज्ञानोपदेश संस्कृत महाविद्यालय ने भी इस कार्य को पूरा करने में हमारे सतत सहायक रहे हैं अत: उनके प्रति भी मैं कृतज्ञ हूं ।

सुहृदवरों में मैं श्री रामधनी द्विवेदी उपसम्पादक अमृत प्रभात का मैं विशेष आभारी हूं जिनसे न केवल प्राच्य ज्योतिष ग्रन्थों की शास्त्रीय चिन्तनधारा को समझने की दिशा प्राप्त हुई है, अपितु विश्व की विभिन्न वेधशालाओं में सम्प्रति हो रहे अनुसन्धानों एवं उनके परिणामों की भी सम्यक सूचना उपलब्ध हो सकी है । पुन: मैं अग्रज तुल्य डा० गिरीश चन्द्र त्रिपाठी प्रवक्ता अर्थशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय का मैं विशेष आभारी हूं, जिनके विशेष सहयोग एवं सत्प्रेरणाओं से यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण कर सका हूं, अत: मैं पुन: उन्हें हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूं ।

मित्रजनों में मैं श्री शेषमणि पाण्डेय, साहित्य विभाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, डा० चन्द्रदेव पाण्डेय, प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डा० हरिनारायण दुबे, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, इलाहाबाद डिग्री कालेज, इलाहाबाद, डा० चन्द्रशेखर तिवारी, श्री शम्भुनाथ पाण्डेय के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूं । अपने अग्रज श्री ओंकार नाथ उपाध्याय, संस्कृत शिक्षक, केन्द्रिय विद्यालय मनौरी, इलाहाबाद से यत्किञ्चित सहायता प्राप्त हो सकी है उसके लिए उन्हें धन्यवाद देता हूं तथा अनुज कमलाशंकर उपाध्याय को अनुजत्व निर्वाह के लिए साधुवाद देता हूं । तथा अन्त में पं० श्यामलाल तिवारी, टंकणकार के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूं जिनके विशेष शीघ्रता एवं शुद्ध टंकण से यह शोधप्रबन्ध टंकित हो सका है ।

ज्योतिषशास्त्र परम गहन शास्त्र है । इसके चार लाख सिद्धान्त बताए जाते हैं । यथा - `चतुर्लक्षं तु ज्योतिषम्` । अतः इस शास्त्ररूपी महासमुद्र को ऋषि मुनियों के अतिरिक्त मनुष्य मन से भी पार करने में असमर्थ है । दैवयोगवश, ग्रह स्थितियों के कारण अथवा गुरुजनों एवं स्वजनों की कृपा से मैंने यह क्षुद्र प्रयास किया है । फिर भी बुद्धि की जड़तामान्धतावश जो कमी रह गयी हो, उसे मनीषीजन क्षमा करेंगे ।

-0-

गिरजाशंकर
(गिरजाशंकर)

१५।८।८८
दिनांक :

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

-0-

प्रथम अध्याय

-0-

आचार्य वराहमिहिर का काल निर्धारण

(क) अन्त: साक्ष्य ।

(ख) बहि: साक्ष्य ।

(ग) छठीं शती ई० स्वीकार करने वालों के मत ।

(घ) प्रथम शती ई० स्वीकार करने वालों के मत ।

(ङ०) प्रथम शताब्दी मानने वालों के मतों का खण्डन ।

प्रथम अध्याय

-0-

आचार्य वराहमिहिर का काल निर्धारण

आचार्य वराहमिहिर भारतीय त्रिस्कन्ध ज्योतिःशास्त्र के पितामह कहे जाते हैं। क्योंकि आचार्य वराहमिहिर ही एक ऐसे ज्योतिषी हुए हैं जिन्होंने ज्योतिःशास्त्र के तीनों स्कन्धों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। आचार्य वराहमिहिर के समय तक ज्योतिष का सुव्यवस्थित रूप नहीं था, अतः आचार्य वराहमिहिर ने पूर्वकालिक ज्योतिष के आचार्यों के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके उन्हें सुचारु रूप से क्रमबद्ध किया। आचार्य वराहमिहिर ने सिद्धान्त ज्योतिष की अपेक्षा जातक (फलित) ज्योतिष पर अधिक कार्य किया। इसीलिए इनके जातक ग्रन्थ भारतीय फलित ज्योतिष के मेरुदण्ड माने जाते हैं। आज भारतीय ज्योतिष का जो विशाल वृक्ष हमें दृष्टिगोचर होता है उसका मूल आचार्य के श्रम से सिञ्चित है। अन्य प्राचीन भारतीय मनीषियों की तरह आचार्य वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। अतः ज्योतिष के अध्येताओं के समक्ष आचार्य के काल निर्धारण में अनेक कठिनाइयां आती हैं। आचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में इतस्ततः प्राप्त संकेतों से, समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर विद्वानों ने उनका काल निश्चित करने का श्रम साध्य प्रयास किया है।

वराहमिहिर के काल निर्धारण के लिए हमें अन्तः और बहिः साक्ष्यों का अवलम्बन लेना पड़ता है। विद्वानों का दो वर्ग है जिनमें अधिकांश वराहमिहिर को छठीं ईसवी का मानते हैं। लेकिन दूसरे वर्ग के विद्वान् ईसा पूर्व प्रथम शती में रखते हैं। आचार्य वराहमिहिर के काल निर्णय के पहले इन सभी विद्वानों के मतों का अवलोकन समीचीन होगा। काल की गणना करने वाले ज्योतिष के विद्वानों की कृतियों में कहीं न कहीं उस काल खण्ड के चिह्न अवश्य अंकित रहते हैं जिस काल में उनका जन्म हुआ होगा। कालगणना में संवत्सर के मान समकालीनमान संवत्सर का उल्लेख आदि ऐसे काल चिह्न हैं जो कृतिकार के समय का उल्लेख करते हैं।

पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ वराहमिहिर की कीर्ति का सबसे प्रमुख कारण है। इसमें इन्होंने ज्योतिषशास्त्र के पांच सिद्धान्तों का संकलन किया

है जो इनके पहले प्रचलित थे तथा सम्प्रति लुप्तप्राय हैं । यह बहुत बड़े महत्व की बात है कि ज्योतिः शास्त्र का विलुप्त इतिहास इस ग्रन्थ में अद्यापि सुरक्षित है । पञ्चसिद्धान्तिका के रोमक सिद्धान्त के प्रकरण में यह लिखा गया है कि अहर्गण बनाने के लिए शकवर्ष ४२७ घटाया जाय ।[१] अर्थात् शक ४२७ गणना का आदिकाल माना गया । वराहमिहिर जब शक ४२७ को गणना का आदिकाल मानते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उनके समय की विशिष्ट तिथि है । चाहे यह उनका जन्मकाल हो या उनके राज्यकाल की कोई घटना हो । कुछ विद्वानों ने इसी को उनका जन्मकाल माना है । परन्तु इसे उनके इस पञ्चसिद्धान्तिका की रचना मानना अधिक उचित प्रतीत होता है ।

शक ४२७ अर्थात् सन् ५०५ ई० पांचवी शती का अन्त और छठीं शती का आरम्भ भारतीय इतिहास का वह समय है जब देश में कोई सार्वभौम सम्राट नहीं था । सन् ५३२ ई० में यशोवर्मा ने हूणों को पराजित किया और मिहिरकुल मृत्यु को प्राप्त हुआ । यह इतिहाससम्मत बात है । अर्थात् ५०५ ई० में कोई सम्राट इस देश में नहीं था अतः यह ५०५ ई० पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ का रचना काल है । बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने कहा है कि उनके समय में अयनान्त[२] मकर और कर्क अर्थात् धनिष्ठा और आश्लेषा नक्षत्र में होता था । इससे स्पष्ट

१- सप्ताश्विवेद संख्यंशककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्द्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्य दिवसाद्ये ।।
(पञ्चसिद्धान्तिका १। ८)

२- आश्लेषार्धाद्दक्षिणमुत्तरमयनं रवेर्धनिष्ठाद्यम् ।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ।।
साम्प्रतमयनं सवितुः कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत् ।
उक्ताभावो विकृतिः प्रत्यक्षपरीक्षणैर्व्यक्तिः ।।
(बृहत्संहिता ३। १। २)

होता है कि वराहमिहिर के समय में मेषराशि का प्रथम अंश अश्विनी नक्षत्र के आरम्भ में पड़ता था । आधुनिक खगोलशास्त्रियों ने गणना करके यह निकाला है कि अयनान्त विन्दु प्रतिवर्ष ५० विकला और २६ प्रतिकला की गति से बदल जाता है । इस आधार पर मेषराशि का प्रथम अंश अश्विनी नक्षत्र का प्रथम अंश छठीं शती के आरम्भ में पड़ता है ।

वराहमिहिर सौर दिवस के प्रारम्भ में विभिन्न परस्पर विरोधी मतों की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध खगोलशास्त्री आर्यभट का उद्धरण देते हैं ।[१] इससे स्पष्ट होता है कि वराहमिहिर या तो आर्यभट प्रथम के समकालीन थे अथवा बाद के । आर्यभट अपने ग्रन्थ आर्यभटीयम् तन्त्र में लिखते हैं कि जब कलियुग के ३६०० वर्ष व्यतीत हो गये उस समय मैं २३ वर्ष का था ।[२] इससे स्पष्ट है कि आर्यभट का जन्म ४७५ ई० अथवा ४७६ ई० में हुआ और यह निर्विवाद सिद्ध है । अतः वराहमिहिर का समय ४७६ ई० के पूर्व किसी भी प्रकार से नहीं कहा जा सकता है ।

वराहमिहिर के काल निर्धारण में अन्तः साक्ष्यों के साथ ही समकालीन आचार्यों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध साक्ष्यों का विश्लेषण करना भी समीचीन होगा । वराहमिहिर के समकालीन अनेक लेखकों ने किसी न किसी रूप में उन्हें उद्धृत किया है, और परवर्ती लेखकों तथा टीकाकारों ने उनकी रचनाओं पर अपनी लेखनी चलायी है । सर्व प्रथम सारावलीकार कल्याणवर्मा ने

१- लङ्कार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभट्टः ।
भूयः स एव सूर्योदयात् प्रभृत्याह लङ्कायाम् ॥
(पञ्चसिद्धान्तिका १५। २०)

२- षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः ।
त्र्यधिकाविंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः ॥
(आर्यभटीयम् गीति ३ श्लोक १०)

ग्रन्थारम्भ में आचार्य वराहमिहिर का नाम आदर के साथ लिया है[१]। चूंकि कल्याणवर्मा का समय विद्वानों ने ५०० शक[२] स्वीकार किया है अतएव वराह-मिहिर सारावलीकार से पूर्व हुए। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त एवं खण्डखाद्य ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थों में वराहमिहिर की चर्चा की है। ब्रह्मगुप्त ने अपने जन्म समय के विषय में स्पष्ट लिखा है अतः इससे भी स्पष्ट है कि वराहमिहिर शक ५०० अर्थात् छठीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व हुए हैं।

गणकतरङ्गिणीकार आचार्य सुधाकर द्विवेदी ने वराहमिहिर को आर्यभट का समकालीन माना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि वराह-मिहिर[३] मगध राजधानी में आर्यभट के मत को सम्यक् जानकर अवन्ती गये। ब्रह्मगुप्त के करणग्रन्थ खण्डखाद्य[४] के टीकाकार आमराज ने लिखा है कि वराहमिहिर की मृत्यु ५०९ शक में हुई।

परन्तु आमराज ने किस आधार पर यह स्वीकार किया, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। 'भारतीय ज्योतिष' ग्रन्थ को मराठी भाषा में लिखने वाले प्रसिद्ध ज्योतिष इतिहासज्ञ शंकर बालकृष्णदीक्षित का कथन है कि वराहमिहिर अपने करणग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका में गणितारम्भ वर्ष ४२७ शक मानते हैं। यदि पञ्चसिद्धान्तिका की रचना शक ४२७ में हुई तो इनका जन्म

१- विस्तरकृतानिमुनिभिः परिहृत्य पुरातनानि शास्त्राणि।
होरातन्त्रं रचितं वराहमिहिरेण संक्षेपात् ॥
(सारावली १। ३)

२- सुधाकर द्विवेदी, गणकतरङ्गिणी, पृ० १६

३- मन्येऽवराहार्यभटौ समकालिकौ मगधराजधान्यां वराहश्चार्यभटमतं सम्यग् विज्ञाय ततोऽवन्तीं गत इति।
(वही पृ० १६)

४- नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके ५०९ वराहमिहिराचार्यो दिवंगतः।
(गोरखप्रसाद, भारतीय ज्योतिष का इतिहास, पृ० ६३)

४०७ के पूर्व होना चाहिए । क्योंकि २० वर्ष से कम अवस्था में ऐसा ग्रन्थ बनाना असम्भव है । अत: वराहमिहिर का जन्मकाल ४२७ शक के पहले तथा ४१२ शक के आस पास हुआ होगा ।[१] यही बात अलबेरुनी भी स्वीकार करता है । अलबेरुनी का कथन है कि सप्तर्षि हमारे समय में अर्थात् शककाल के ९५२ वें वर्ष में सिंह के १ $\frac{१}{३}$ और कन्या के १३ $\frac{१}{२}$ के बीच के स्थान में हैं ।[२] इससे स्पष्ट हो जाता है कि अलबेरुनी ने १०३० ई० में यह ग्रन्थ लिखा था । विषुवों के अयन चलन की चर्चा करता हुआ वह वराहमिहिर के मत का उल्लेख करता है । इसी स्थल पर वह लिखता है कि वराहमिहिर का समय हमारे समय से कोई ५२६ वर्ष पूर्व था ।[३] अलबेरुनी के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य वराहमिहिर का समय १०३०- ५२६ अर्थात् ५०४ या ५०५ ईसवी के आसपास था । जी० थीबो ने आमराज एवं भाउदाजी के मत को प्रमाण मानते हुए ५०९ शक वराहमिहिर का मृत्युकाल स्वीकार किया है ।[४] आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है कि वराहमिहिर का महत्व प्राचीन फलिताचार्यों की अपेक्षा अधिक है, तथा इनका जन्म छठीं शताब्दी ई० में हुआ ।[५] डा० कर्ण ने बृहत्संहिता की टीका करते समय भूमिका में लिखा है कि वराहमिहिर का समय ४२७ शक के आसपास है ।[६]

डा० गोरखप्रसाद, वराहमिहिर का जन्मकाल ४२७ के पश्चात्

१- शंकरबालकृष्ण दीक्षित - भारतीय ज्योतिष, पृ० २६२

२- अलबेरुनी का भारत, द्वितीय भाग, पृ० ३६०

३- वही, तृतीय भाग, पृ० ११३

४- जी० थीबो की पञ्चसिद्धान्तिका टीका की भूमिका, पृ० २९

५- आचार्य बलदेव उपाध्याय - संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० १२०

६- गोरखप्रसाद— भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ९३

मानते हैं । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि वराहमिहिर का देहान्त ५८७ ई० में हुआ।[१] लेकिन गोरखप्रसाद वराहमिहिर के मृत्यु का समय ५८१ ई० किस आधार पर स्वीकार करते हैं इसका कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है । अर्कसोमयाजी श्री धूलिपाल का कथन है कि आचार्य वराहमिहिर विक्रमार्क की सभा में विद्यमान नवरत्नों के मध्य एक थे । जैसा कि `ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायाम्' इस श्लोक से प्रतीति होती है । इनके ग्रन्थों का रचनाकाल ४२७ शक है ।[२]

पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, वाराही संहिता का हिन्दी अनुवाद करते समय भूमिका में लिखते हैं कि यह देखना चाहिए कि वराहमिहिराचार्य के समय से वर्तमान काल तक अयन कितने अंशपूर्व में आगे बढ़ा है । बंगदेश की पंजिकाओं के देखने से ज्ञात होता है कि शकाब्द १८१५ के प्रारम्भ में अयन २०-५४-३६ विकला पूर्व में आगे बढ़ा है । इस मत से वराह का समय ४२१ शकाब्द ज्ञात होता है।[३]

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री का कथन है कि आचार्य वराहमिहिर का जन्म ५०५ ई० में हुआ था, तथा वराहमिहिर काल्पी नगर में उत्पन्न हुए थे, अनन्तर उज्जयिनी जाकर रहने लगे और वहीं पर ग्रन्थों की रचना की । उन्होंने ज्योतिष शास्त्र को जो कुछ[४] भी दिया है वह युगों-युगों तक उनकी कीर्ति कौमुदी को भासित करता रहेगा । पं० अवधविहारी त्रिपाठी ने भटोत्पली टीका

१- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ६३,१०१,७४

२- अर्कसोमयाजी श्री धूलिपाल -- ज्योतिर्विज्ञानम्, पृ० १०

`वराहमिहिराचार्यो विक्रमार्कस्य सभायां विद्यमानानां नवरत्नानां मध्ये रत्नमेकामिति । ख्यातोवराहमिहिरो नृपतेः सभायाम् इति-श्लोकेन काचित् प्रतीतिः । अस्य ग्रन्थ रचनाकालः सप्ताश्विवेद (४२७) मितः शकः ।

३- वाराही (बृहद्) संहिता की टीका बलदेवप्रसाद जी मिश्र कृत भूमिका पृ० ३ ।

४- डा० नेमिचन्द्र शास्त्री - भारतीय ज्योतिष, पृ० ८१

बृहत्संहिता की टीका करते समय भूमिका में लिखा है कि 'प्रसिद्ध इतिहासकारों ने ४१२ शक के आसपास वराहमिहिर का जन्मकाल माना है जो कि युक्तियुक्त प्रतीत होता है[१]।

राधाकमल मुकर्जी ने गुप्त संस्कृति के वर्णन में लिखा है कि आर्यभट एवं वराहमिहिर के ज्योतिष का विकास इसी युग में हुआ था। विज्ञान की उपलब्धियों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि लगभग ५०५ ई० में वराहमिहिर ने अपनी कृति पञ्चसिद्धान्तिका में दो ऐसे सिद्धान्तों को सम्मिलित किया है जिनके नाम विदेशी हैं[२]। डा० विमलचन्द्र पाण्डेय के अनुसार गुप्तकाल के सर्वाधिक प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर थे। इनके सर्वप्रमुख ग्रन्थ बृहत्संहिता एवं पञ्चसिद्धान्तिका हैं। इन्होंने पृथवी, सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की स्थिति पर विचार किया तथा इसके साथ-साथ इन्होंने भूगोल वनस्पतिशास्त्र वास्तु तथा लक्षण शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है[३]।

डा० उदयनारायण राय ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य विद्वानों का संरक्षक था। एक भारतीय परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त) के दरबार में नौ विद्वान् (नवरत्न) धनवन्तरि क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर एवं वररुचि थे[४]। गुप्तकाल के साम्राज्य शासन के वर्णन प्रसंग में उदयनारायण राय ने लिखा है कि इस काल (गुप्त) के सबसे प्रसिद्ध खगोलशास्त्री वराहमिहिर थे। इनका जन्म काम्पिल्य

१- बृहत्संहिता की टीका की भूमिका, पृ० १४
   'इतिहासकारैः ४१२ शकासन्नकालो स्यऽनिर्धारितः। स युक्तियुक्तः प्रतिभाति।'

२- राधाकमल मुकर्जी - भारत की संस्कृति एवं कला, पृ० १६०

३- डा० विमलचन्द्र पाण्डेय - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १२६

४- डा० उदयनारायण राय - गुप्तराजवंश तथा उसका युग, पृ० २४२

में हुआ था, ये आदित्यदास के पुत्र थे, ज्ञानार्जन के निमित्त उज्जयिनी आये थे ।[१] डा० वात्स्यायन ने भारतीय विज्ञान के वर्णन प्रसंग में कहा है कि वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका ५०५ ई० में लिखी गयी ।[२] उन्होंने कहा है कि आर्यभट के पश्चात् वराहमिहिर (५०५ ई० से ५८७ ई०) नाम के प्रसिद्ध विद्वान हुए जिन्होंने पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में खगोलविद्या की पांचों पद्धतियों का उल्लेख किया है ।[३] इसके अतिरिक्त उन्होंने ज्योतिष विद्या पर बहुत अधिक ग्रन्थ लिखे । डा० सूर्यकान्त ने लिखा है कि षष्ठ शती ई० में वराहमिहिर द्वारा प्रणीत पञ्च-सिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ से हमें प्राचीन पांच सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है । सिद्धान्त ज्योतिष के प्रसिद्ध एवं प्रमाणभूत आचार्य वराहमिहिर हैं जिनकी मृत्यु ५८७ ई० में हुई थी ।[४]

ओमप्रकाश ने लिखा है कि ५०५ ई० से ५८७ ई० में पञ्चसिद्धान्तिका में ज्योतिष के पांचों सिद्धान्तों का विवेचन किया है । उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि यूनानी ज्योतिष के प्रसिद्ध पंडित थे ।[५] डा० सत्यनारायण पाण्डेय वराहमिहिर को छठीं शताब्दी का स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि डा० मैकडानल एवं डा० कीथ आदि अन्त: साक्ष्य से वराहमिहिर का समय ५०५ ई० मानते हैं ।[६]

१- डा० उदयनारायण राय - गुप्तराजवंश तथा उसका युग, पृ० ४०१

२- डा० वात्स्यायन - भारतीय संस्कृति, पृ० १८१

३- वही पृ० १८२

४- डा० सूर्यकान्त - संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, पृ०

५- ओम प्रकाश - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २५१

६- डा० सत्यनारायण पाण्डेय — संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०

परन्तु मैकडानल एवं कीथ किस अन्त:साक्ष्य के आधार पर यह समय सिद्ध करते हैं इसका उल्लेख पाण्डेय जी नहीं करते । सम्भवत: `सप्तर्षिविवेक` को प्रमाण मानकर यह काल मैकडानल एवं कीथ ने स्वीकार किया है ।

शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है कि `पूनानिवासी कैलाशवासी श्रीरघुनाथ शास्त्री टेंगमूकर नामक एक ज्योतिषी ने वराहमिहिर के समय के विषय में एक श्लोक[1] बताया है ।परन्तु दीक्षित जी का कहना है कि इस श्लोक में बतलाये गये सम्वत्सर की किसी भी पद्धति से गणित से संगति नहीं लगती, अत: यह विश्वसनीय नहीं है ।[2]

इन विद्वानों के अतिरिक्त कतिपय विद्वान् वराहमिहिर को प्रथम शताब्दी का स्वीकार करते हैं । जिनमें ~~प्रमुख हैं~~ डा० बी० वी० रमन, प्रो० सूर्यनारायण राव, डा० पी० यस० शास्त्री आदि प्रमुख हैं । डा० पी० यस० शास्त्री ने वराहमिहिर को प्रथम शताब्दी का स्वीकार तो किया है, परन्तु कारण का उल्लेख नहीं किया है ।[3]

डा० बी० वी० रमन तथा प्रो० सूर्यनारायण राव का कथन है कि डा० कर्ण द्वारा सम्पादित बृहत्संहिता की टीका जो `बिबलियोथिका इण्डिका` सीरीज में १८६५ ई० में बनारस से प्रकाशित है उसमें वराहमिहिर का काल ५ वीं शताब्दी ई० में रखने की चर्चा करते हुए सम्पादक ने लिखा है । यहां

१- स्वस्ति श्रीनृप सूर्यसूनुजशके याते द्विवेदाम्बर त्रै
३०४२ मानाब्दमितेत्वनेहसिजये वर्षे वसन्तादिके ।
चैत्रे श्वेतदले शुभेवसुतिथावादित्यदासादभूत्
वेदाङ्गे निपुणो वराहमिहिरो विप्रो रवेराशिभि:

२- शंकरबालकृष्ण दीक्षित — भारतीय ज्योतिष
पृ० २६४

३- डा० पी० यस० शास्त्री का पत्र

डा० वी० वी० रमन इस काल को त्रुटिपूर्ण मानते हैं।[१] इस सम्बन्ध में उन्होंने कालिदास के ज्योतिर्विदाभरणम् का श्लोक[२] उद्धृत किया है। इस श्लोक में विक्रमादित्य के नवरत्नों का वर्णन है और वराहमिहिर के नाम के पहले ख्याती विशेषण का प्रयोग किया गया। अर्थात् विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्नों का वर्णन जिस समय कालिदास कर रहे थे उस समय वराहमिहिर जगत प्रसिद्ध वयोवृद्ध भी हो चुके थे। इसमें सन्देह नहीं कि आज भी प्रत्येक इतिहासकार वराहमिहिर को विक्रमादित्य के नवरत्नों में मानता है और यह विक्रमादित्य गुप्तकालीन प्रसिद्ध नरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कहे जाते हैं।

परन्तु डा० वी० वी० रमन का यहां अन्य इतिहासकारों से मतभेद है। उन्होंने मीडोज टेलर की पुस्तक हिस्ट्री आफ इण्डिया को उद्धृत करते हुए कहा है कि वराहमिहिर जिस विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य न होकर आन्ध्रवंश का शासक विक्रमादित्य था। यह ईसा पूर्व प्रथम शती में गोदावरी नदी के दक्षिण वारंगल क्षेत्र का शासक था, और उसका साम्राज्य मालवा और मध्यभारत में मगध तक सात शदियों तक फैला हुआ था तथा उसके दरबार में विद्वानों, दार्शनिकों और कवियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। रमन जी का कहना है कि इसी विक्रमादित्य ने ५६ ई० पू० में विक्रमीय संवत् चलाया जो, अब भी चलता है। आधुनिक इतिहासकार इस विक्रमादित्य और गुप्तकालीन विक्रमादित्य को एक मान लेते हैं, जबकि गुप्तकालीन विक्रमादित्य ने शक संवत् की स्थापना[३] की। आन्ध्रवंशीय वह विक्रमादित्य भी उज्जयिनी से राज्य संचालन करता था।

१- एस्ट्रोलाजिकल मेगजीन वाल्यूम ३४ नं० १, पृ० २४
जनवरी १९४५ ई० का प्रकाशन।

२- धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्ट घटखर्पर कालिदासा:।
ख्यातोवराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य ।।

३- मीडोज टेलर की पुस्तक हिस्ट्री आफ इण्डिया ।

बृहत्संहिता के सप्तर्षिचाराध्याय के तीसरे श्लोक[१] की चर्चा करते हुए रमन महोदय कहते हैं कि चिदम्बर अय्यर के अनुवाद के अनुसार विक्रम शक आरम्भ होने से २५२६ वर्ष पहले युधिष्ठिर के शासनकाल में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे । यहां अय्यर महोदय ने अनुवाद में विक्रम शक लिखा है जबकि श्लोक में मात्र शक शब्द ही कहा गया है ।

हरविलास 'शरद' ने अपनी पुस्तक हिन्दू सुपरियारटी में उपर्युक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार लिखा है । 'शालिवाहन काल में २५२६ जोड़ देने पर युधिष्ठिर के शासन काल का समय आ जाता है ।' रमन महोदय का कथन है कि हरविलास शरद का यह अनुवाद त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि उसमें शालिवाहन शक कहा गया है । उनका कहना है कि उपर्युक्त श्लोक का अर्थ यह हुआ कि वर्तमान शक में २५२६ जोड़ देने पर युधिष्ठिर शक का काल आ जाता है । श्लोक में वराह-मिहिर ने खगोलीय तथ्य यह बतलाया है कि उस समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे । रमन महोदय का कथन है कि विवाद इस बात पर है कि वराहमिहिर के समय में कौन सा शक प्रचलित था । उत्तरभारत में विक्रम शक संवत के रूप में जाना जाता है, और दूसरे को सिर्फ शक कहा जाता है । शालिवाहन के बाद दो कालगणनाएं साथ-साथ चलीं, लेकिन विक्रमादित्य ५६ ई० पू० के पहले लेखक शक का प्रयोग काल गणना के लिए करते थे । जो विक्रम शक और शालिवाहन शक से सर्वथा भिन्न था । कालिदास के वर्णन के अनुसार वराहमिहिर उनके समकालीन थे और ये दोनों लोग विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे । डा० कर्न ज्योतिर्विदा-भरणम् को ३३ ई० पू० रखते हैं, लेकिन वही डा० कर्न वराहमिहिर को ५ वीं शती ई० का कहते हैं । लगता है कि ऐसा उन्होंने उस श्लोक को बिना पढ़े ही लिख दिया है । यहां रमन महोदय अपना मत देते हुए कहते हैं कि वराहमिहिर

१- आसन्मघासु मुनय: शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुत: शककालस्तस्य राज्ञश्च ।।

(बृहत्संहिता, सप्तर्षिचाराध्याय,
श्लोक ३) ।

ने जिस शक की चर्चा की है वह निश्चित रूप से बुद्ध शक[१] था। यदि बुद्ध शक में २५२६ जोड़ा जाय तो ३०१३ आता है, यह युधिष्ठिरीय शक हुआ। इस समय[२] ५०३३ युधिष्ठिरीय शक है और अब यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि आज से ५०४५ वर्ष पहले कलियुग आरम्भ हुआ था। सिद्धान्तशिरोमणि[३] के अनुसार शालिवाहन शक की स्थापना के समय कलियुग के ३१७९ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस समय शालिवाहन शक १८६६ है। अत: कलियुग ३१७९ + १८६६ = ५०४५ हुआ। युधिष्ठिर पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र थे। यह निश्चित है कि युधिष्ठिर शक की शुरूआत कौरवों पर पाण्डवों की विजय के पश्चात् हुई थी। पुन: अपने कथन को सिद्ध करते हुए रमन महोदय कहते हैं कि जगन्नाथपुरी में ताड़पत्र पर अंकित रिकार्ड के अनुसार धर्मराज ने महाभारत युद्ध के पश्चात् १२ वर्ष तक शासन किया। उसके बाद परीक्षित का शासन आरम्भ हुआ। इसलिए यदि कलियुग में से १२ घटा दें तो ५०३३ युधिष्ठिरीय शक होता है, तथा इसमें से ३०११ घटा देने पर २०२२ बचता है। अत: वराहमिहिर आज से २०२२ वर्ष पहले हुए, और विक्रम में अर्थात् ५६ ई० पू० में शकों और हूणों पर अपनी विजय के १२ वें वर्ष विक्रम संवत् की स्थापना किया।

उपर्युक्त आचार्यों, इतिहासकारों के मतों का उहापोह करने पर यह स्पष्ट होता है कि आचार्य वराहमिहिर का जन्म छठीं शताब्दी ई० में हुआ यहां डा० बी० वी० रमन का यह मत सर्वथा असमीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि डा० बी० वी० रमन बृहत्संहिता के सप्तर्षिचाराध्याय के 'शककालस्तस्यराज्ञश्च'

१- ५४३ ई० पू०

२- १९४४ ई०

३- भास्कराचार्य द्वितीय कृत।
विक्रम शक की स्थापना ५६ ई० पू०
बुद्ध शक् ५४३ ई० पू० घटाने से ४८७ ई० पू०
२५२६ जोड़ने पर ३०१३।

को शालिवाहन शक न मानकर बुद्ध शक मान लेते हैं तथा हरविलास शरद् और चिदम्बर अय्यर आदि की टीका को असत्य सिद्ध करते हुए कहते हैं कि यह शक निश्चित रूप से बुद्ध शक था । लगता है कि डा० बी० वी० रमन को यहां भ्रान्ति हुई है । टीकाकारों ने जो यहां शालिवाहन शक की चर्चा की है, वस्तुत: वह सत्य ही है । क्योंकि बृहत्संहिता के ही बृहस्पतिचाराध्याय में भी वराहमिहिर ने शकेन्द्रकाल[१] और शक भूपकाल[२] की चर्चा की है । यदि हम सप्तर्षिचाराध्याय के तीसरे श्लोक में वर्णित शक काल को बुद्ध शक मानें तो यहां भी हमें निश्चित रूप से शकेन्द्रकाल और शकभूपकाल को बुद्धशक ही मानना चाहिए । परन्तु वास्तविकता यह नहीं है । यहां बृहस्पतिचाराध्याय में शालिवाहन शक से गणना करने पर ही बृहस्पति की स्थिति किस नक्षत्र में है यह ज्ञात होता है । आचार्य भटोत्पल[३] जिन्होंने पञ्चसिद्धान्तिका को छोड़कर वराहमिहिर के सम्पूर्ण ग्रन्थों की टीका की है, स्पष्ट लिखा है कि यह शालिवाहन शक ही है, तथा इस शक की स्थापना विक्रमादित्य के द्वारा शक राजा का वध कर देने पर हुई[४] ।

लगता है डा० रमन महोदय का ध्यान पञ्चसिद्धान्तिका के इस

१- गतानिवर्षाणि शकेन्द्रकालाद्धतानिरुद्रैर्गुणयेच्चतुर्भि: ।
नवाष्टपञ्चाष्टयुतानिकृत्वा विभाजयेच्छून्यशरागरामै: ।।
(बृहत्संहिता ८। २०)

२- फलेनयुक्तंशकभूपकालं संशोध्य षष्ट्याविषयैर्विभज्य ।
युगानिनारायणपूर्वकाणि लब्धानि शेषा: क्रमश: समा: स्यु: ।।
(बृहत्संहिता ८। २१)

३- ८८८ शक बृहत्संहिता की टीका, जन्म समय लगभग ९६६ ई०

४- वही, पृ० ३१६

श्लोक[१] पर भी नहीं जा सका जिसका प्रयोग वराहमिहिर ने अहर्गण लाने के लिए किया है, अन्यथा उन्हें ऐसी भ्रान्ति न होती । ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ का संकेत करते हुए रमन जी ने यह कहा है कि कालिदास और वराहमिहिर समकालिक थे जैसा कि `धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु' इत्यादि श्लोक से स्पष्ट है । डा० कर्न कालिदास को तो ३३ ई० पू० मानते हैं परन्तु वराहमिहिर को पांचवी शताब्दी का । रमन जी ने लिखा है कि डा० कर्न ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ के इस श्लोक को नहीं पढ़ पाये । परन्तु यह असम्भव प्रतीत होता है क्योंकि जो व्यक्ति ग्रन्थारम्भ और ग्रन्थ समाप्ति के कालनामक श्लोक[२] को तो पढ़ सकता है भला वही व्यक्ति १० श्लोक पूर्व उपर्युक्त श्लोक को क्यों नहीं पढ़ेगा । वास्तविकता यह है कि यहां डा० कर्न ने `ज्योतिर्विदाभरणम्' में वर्णित ग्रन्थ के आरम्भ और समाप्ति जो लेखक द्वारा विहित है उसको कहा है । यहां डा० कर्न का अभिप्राय केवल ग्रन्थ में वर्णित समय से है जो कि भले ही अप्रामाणिक है । परन्तु लगता है कि यह ज्योतिर्विदाभरणम्ग्रन्थ साहित्य के `भोजप्रबन्ध' ग्रन्थ की भांति अप्रामाणिक ग्रन्थ है । जैसे भोज प्रबन्ध में भिन्न-भिन्न काल वाले कालिदास भवभूति, माघ एवं भारवि इत्यादि महाकवियों को समकालीन माना गया है,ठीक उसी प्रकार यह ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ भी भिन्न-भिन्न काल वाले वररुचि वराहमिहिर, धनन्वतरि, कालिदास आदि को समकालीन मानता है ।

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ की रचना किसने की यही प्रश्न विचारणीय है । ग्रन्थ के रचियता ने अपने को

१- सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्य दिवसाद्ये ।।
(पञ्चसिद्धान्तिका १।८)

२- वर्षैः सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणै (३०६८) र्यातिकलौ संमिते ।
मासेमाधवसंज्ञिके च विहितोग्रन्थक्रियोपक्रमः ।।
(ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थाध्याय निरूपण प्रकरण)
श्लोक २१)

रघुवंशादि काव्यत्रय लिखने वाला महाकवि कालिदास कहा है।[१] जो कि सर्वथा असत्य है, क्योंकि जिस महाकवि कालिदास ने स्वरचित महाकाव्यों, नाटकों एवं गीति काव्यों में अपने नाम तक की भी चर्चा नहीं किया, बल्कि अतीव विनम्रता से अपने को मन्द: कवि यश: प्रार्थी, 'क्वचाल्प विषया मति:' इत्यादि कहा है भला वही कवि अब यहां इतना बड़ा दर्प कैसे कर सकता है। लगता है ये कालिदास गणक कालिदास थे। तथा वराहमिहिर से काफी बाद में हुए,और रघुवंशादि के प्रणेता महाकवि कालिदास के व्यक्तित्व से प्रभावित होकरके अथवा अपनी पुस्तक की अत्यधिक प्रसिद्धि के लिए तथा अपने को महाकवि कालिदास सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह समय निश्चित किया और इसी बहाने अपने को रघुवंशादि काव्यत्रय का प्रणेता कहा है। ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ को प्रमाणित करने के लिए एक किंवदन्ती प्रचलित है, कि एकबार विक्रमादित्य के दरबार में जो विद्वानों से परिपूर्ण था वराहमिहिर ने महाकवि कालिदास को मूर्ख कह दिया था अतएव कालिदास ने इस अपमान से वराहमिहिर को नीचा दिखाने के लिए ज्योतिर्विदाभरणम् नामक ग्रन्थ की रचना किया।[२]

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह किंवदन्ती सर्वथा असत्य है। क्योंकि ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण रूप पूर्वाचार्यों की वंदना के पश्चात् ग्रन्थकर्ता

१- काव्यत्रयंसुमतिकृद्रघुवंश पूर्वं पूर्वं ततो ननु कियच्छ्रुति कर्मवाद: ।
ज्योतिर्विदाभरणकालविधानशास्त्रं श्रीकालिदास कवितोहि ततो बभूव ।।
(ज्योतिर्विदाभरणम् वही श्लोक २०)

२- कस्मिंश्चित् समये नृपस्य सदसि श्रीविक्रमार्कस्य यो,
विद्वद्भि: परिपूरिते च सुजनैरुक्तिं सदोषां जगौ ।
दैवज्ञस्य ततो वराहमिहिरस्यानेन मूर्खीकृतो
नज्ञो स्यामिति कालिदास कविना दुर्बोधशास्त्रं कृतम् ।।
(ज्योतिर्विदाभरण, टीकाकार का फुट नोट)
पृ० २५३ ।

ने वराहमिहिर के मत की प्रशंसा की है।[१] तथा अन्त में चलकर ख्यातोवराह-मिहिरो कहकर वराहमिहिर के प्रति सम्मान एवं आदर प्रकट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ का कर्ता वराहमिहिर से अवश्य प्रभावित था, अन्यथा वह वराहमिहिर की स्तुति कदापि न करता। दूसरी प्रमुख बात यह है कि ज्योतिर्विदाभरणकार ने सिर्फ अपने को महाकवि कालिदास प्रमाणित करने के लिए ई० पू० ३३ में ग्रन्थ की समाप्ति कही है। जबकि वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि लेखक ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त तथा लल्ल की चर्चा अपने इस ग्रन्थ में की है।[२] ब्राह्मस्फुट सिद्धान्तकार आचार्य ब्रह्मगुप्त ने अपने जन्म समय के विषय में स्पष्ट लिखा है।[३] तथा लल्ल का समय निश्चित करते हुए विद्वानों ने लल्ल को आर्यभट का शिष्य कहा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ की रचना ब्रह्मगुप्त एवं लल्ल के बाद में हुई।

रमन महोदय बृहत्संहिता अध्याय १३ के तीसरे श्लोक की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह शक बुद्ध शक है, इसमें षड्द्विकपञ्चद्वियुत: अर्थात् २५२६ जोड़ देने पर ३०१३ युधिष्ठिरीय शक होता है। परन्तु रमन जी का यह कथन असङ्गत लगता है, क्योंकि ज्योतिर्विदाभरणकार ने ३०४४ युधिष्ठिरीय शक

१- अन्यासदुक्तिविहितोऽङ्गमफलराशीन्व्यर्थानिहं विरचयामि वरोति युक्ती: ।
मत्वा वराहमिहिरादिमतैरनेकै ज्योतिर्विदाभरणमप्यसम्मतार्हम् ।।

(ज्योतिर्विदाभरणम् १।२)

२- वही ४। ५५

३- ब्रह्मगुप्त विष्णुगुप्त के पौत्र थे तथा जिष्णुगुप्त के पुत्र थे। इनका जन्म शक ५२० में हुआ तथा ५५० शक में ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त और ५८७ में खण्डखाद्य नामक करण ग्रन्थ लिखा। ये व्याघ्रमुखराजा के दरबार में राजज्योतिषी के रूप में थे।

माना है।[१] पी० वी० काणे आदि विद्वान् भी ३०४४ ही युधिष्ठिरीय शक मानते हैं।[२] पुन: रमन जी का कथन है कि, सिद्धान्त शिरोमणि के अनुसार शालिवाहनीय शक की स्थापना के समय कलियुग के ३१७९ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। भास्कराचार्य का यह कथन सर्वथा समीचीन है, क्योंकि आधुनिक पञ्चाङ्गकार भी इसी आधार पर कलियुग के समय की गणना करते हैं। परन्तु युधिष्ठिर द्वापर के अन्त में ही थे यह कथन विवादयुक्त ही है, क्योंकि सर्वप्रथम पं० कल्हण भट्ट ने विक्रम संवत् १२०५ में बृहत्संहिता के १३-२-३ का अर्थ करते हुए लिखा है कि जो लोग द्वापर युग के अन्त में महाभारत युद्ध का होना कहते हैं वे भ्रम में हैं, और मिथ्या कहते हैं, कलियुग के ६५३ वर्ष व्यतीत हो जाने पर कुरुपाण्डवों का होना निश्चित है।[३]

सम्प्रति[४] सिद्धान्तशिरोमणि के अनुसार कलियुग के ५०८६ वर्ष व्यतीत हो रहे हैं तथा शककाल १९०७ में षड्द्विकपञ्चद्वियुत: अर्थात् २५२६ जोड़ने पर २५२६ + १९०७ = ४४३३ + ६५३ = ५०८६ वर्ष होते हैं, अर्थात् कलियुग के आरम्भ होने के पश्चात् ६५३ वर्ष में युधिष्ठिर का समय होता है। जो कि कल्हण भट्ट को भी अभीष्ट है। अत: इस कथन से सिद्ध होता है कि प्रो० सूर्यनारायणराव तथा डा० वी० वी० रमन की यह मान्यता असमीचीन है।

१- युधिष्ठिराद्दिग्युगाम्बराग्नय: ३०४४ कलंबविश्वे १३५ प्रमिताष्टभूमय: ।

(ज्योतिर्विदाभरणम् १०।१११)

२- धर्मशास्त्र का इतिहास, चतुर्थ भाग, पृ० ३१७

३- भारतं द्वापरान्ते भूद्वार्तयेति विमोहिता:
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्यां प्रचक्रिरे ।।
शतेषु षट्सुसार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले ।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरुपाण्डवा: ।।

(राजतरङ्गिणी १, ४९)

४- संवत् २०४२ शक् १९०७ ई० सन् १९८५

ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ में उद्धृत श्लोक जिसमें धन्वन्तरि आदि को विक्रमादित्य के दरबार का नवरत्न कहा गया है उसमें ग्रन्थकार अपना भी नाम (कालिदास) उद्धृत करते हैं । यद्यपि ग्रन्थकार अपने को रघुवंशादि महाकाव्यों का प्रणेता कवि कालिदास कहा है । तथापि यह प्रतीत होता है कि ये कालिदास कवि कालिदास से भिन्न पूर्वकालामृतम्[1] उत्तरकालामृतम् तथा ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ के लेखक ज्योतिषी कालिदास हैं तथा उनका यह कथन कि मैं कवि कालिदास हूं तथा राजा विक्रमादित्य का सखा हूं, यह आत्मश्लाघा मात्र है । शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है कि ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ मुहूर्त का है इसमें लिखा है कि इसे रघुवंशादि काव्यों के रचयिता कालिदास ने गतकलि ३०६८ में बनाया है, पर यह कथन मिथ्या है । इसमें ऐन्द्रयोग का तृतीय अंश व्यतीत होने पर सूर्यचन्द्रमा का क्रान्तिसाम्य बताया है । इससे इसका रचनाकाल लगभग शक ११६४ निश्चित होता है[2]। यदि इसके रचयिता कालिदास ही हैं तो निश्चित है कि ये रघुवंशकार कालिदास से भिन्न हैं ।

प्राचीन विश्व इतिहास में राजा नौशेरवां के एक स्वप्न का मनोरम वर्णन मिलता है । नौशेरवां ने एक स्वप्न में देखा कि वह स्वर्णपात्र में शराब पी रहा है, और उसी पात्र में एक काले कुत्ते ने मुंह डालकर शराब पी लिया । राजा नौशेरवां अपने मंत्री बुजुरमिहिर से इसका (स्वप्न) का फल जानना चाहा । मंत्री ने बताया कि स्वप्न से लगता है कि उसकी प्रिय रानी के पास कोई काला दास है, जो उसका प्रेमी है । मंत्री ने कहा कि राजा के समक्ष अन्त:पुर की नारियों को नग्न होकर नाचना चाहिए । इस प्रकार राजा के कथन पर उन नारियों में एक ने आनाकानी की, और पता चला कि वह एक काला दास था । इस प्रकार वजीर (मंत्री) की व्याख्या सच निकली । वजीर के नाम

१- पूर्वकालामृतम् सम्प्रति अनुपलब्ध है । उत्तरकालामृतम् में आचार्य ने कहा है कि ज्योतिषशास्त्र की प्रारम्भिक बातें मैंने पूर्वकालामृतम् में विस्तार के साथ कहा है ।

2- (भारतीय ज्योतिष पृ० ६१८)

वुवुरमिहिर और वराहमिहिर में ध्वनि साम्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वुवुरमिहिर यही वराहमिहिर थे।[1]

नौशेरवां का शासन काल ५३१ ई० से ५७६ ई० के बीच रहा है।[2] पी० वी० काणे का कथन है कि सम्भवत: वराहमिहिर नौशेरवां के दरबार में उच्चपद पर आसीन थे। यदि काणे महोदय के इस कथन को सत्य माना जाय तो यह लगता है कि वराहमिहिर ज्योतिष सम्बन्धी उच्च शिक्षा किसी यवन देश में सीखी और उसमें निष्णात होने के पश्चात् वह नौशेरवां जैसे यवन शासक के दरबार में थोड़े दिनों तक राज ज्योतिषी के रूप में रहे। प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों में वराहमिहिर ही प्रथम ज्योतिषी हैं जो ज्योतिष ज्ञान में यवनों की निष्णातता के प्रशंसक हैं।[3]

भविष्यपुराण में भी आचार्य वराहमिहिर के वृतान्त का वर्णन मिलता है। उसमें कहा गया है कि ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक वराहमिहिराचार्य ने लङ्का में आकर वहीं ज्योति: शास्त्र का अध्ययन किया। जातक, फलित, मूक-प्रश्नादि जो म्लेच्छों द्वारा विनष्ट कर दिया गया था, उसका फिर से उद्धार किया।[4] साम्बपुराण में वराहमिहिर के बृहत्संहिता की चर्चा करते हुए

१- धर्मशास्त्र का इतिहास, चतुर्थ भाग, पी० वी० काणे कृत, पृ० २६२

२- वही, पृ० २६२

३- म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक्शास्त्रमिदं स्थितम् ।
 ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्द्विज: ।।
 (बृहत्संहिता १।   )

४- वराहमिहिराचार्यो ज्योति: शास्त्र प्रवर्तक: ।
 लङ्कामागम्य तत्रैव ज्योति:शास्त्रमधीतवान् ।।
 जातकं फलितं चैव मूकप्रश्न तथादित: ।
 म्लेच्छैर्विनाशितं यत्तु वेदाङ्गज्योतिषां गति: ।।
 पुनरुद्धरितं तेन त्रिधाभूतं सनातनम् ।।
 (भविष्यपुराण, चतुर्थ खण्ड, अष्टम अध्याय)

साम्बपुराणकार ने सूर्य, विष्णु आदि की प्रतिमाओं का उल्लेख किया है।[१]
चूंकि भविष्यपुराण एवं साम्बपुराण दोनों का समय विद्वानों ने सातवीं,आठवीं शताब्दी सिद्ध किया है,[२] अत: इससे भी स्पष्ट होता है कि वराहमिहिर निश्चित रूप से छठीं शताब्दी ई० तक हो चुके थे।

इस प्रकार अनेक अन्त: तथा वाह्य साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य वराहमिहिर का जन्म छठीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में हुआ।

१- साम्बपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ३५

२- धर्मशास्त्र का इतिहास - चतुर्थ भाग, पृ० ४१८।

The Age of Varahamihira

VARAHAMIHIRA was one of the greatest writers on Astrology, Astronomy and Natural Science. Naturally readers of his works would like to know the age of such a great personage, when he flourished and under whose patronage, he dived deep into the mysteries of the unfathomable depths of astro- logical knowledge. His disinterested labours in the field of research in Astrology and Astronomy, have been of great value for the modern generations. No doubt there exists greater mines of intellectual treasures in the branches of knowledge covered by Varaha- mihira, compiled by the ancient Maharshi, but they are deep oceans at whose sight the ordinary readers may get dispirited and gene- rally give up the studies. Having read the older works on Astrology, Astronomy and other collateral sciences, Varahamihira says, that he will make a careful selection, write in as consise a manner as possible, with a pleasing variety of metre, containing deep meaning for reflective minds and thus provide a scientific boat to cross the grand ocean of Astrology. That this claim is fully justified, is evident to any student of his writings.

None of the Indian writers have tried to find out the exact age of this great man, except perhaps the late Prof. B. Suryanarain Rao, the distinguished Founder of *The Astrological Magazine*. Though the Europeans may be given credit for their interest in researches after Chronology in Indian matters, still they are tinged by racial and political prejudices. They are ever ready to ignore facts and indulge in their own fancies. Thus self-pride and prejudice have been the bane of many of the modern writers. These worthies begin their introductions with strong invectives against the ancients and judge many of their actions in the light of pet theories. Such ill-founded criticisms produce the characteristics of self- elation, jealousy and meanness. Even now there are some scholars whose hobby seems to be to think that the Hindus copied all their sciences, arts, literature and philosophy from the Greeks and that the antiquity of the Hindus cannot be placed before one or two thousand years B.C. Some of the modern astronomers assert with ill-founded reason that the Hindus borrowed their astronomy from the Greeks, those ignorant geniuses in astronomy who said that the Sun was a red-hot iron ball suspended in the heavens between the Peloponnesian and some other mountains. We can excuse ignorance. We cannot show sympathy for wilful perversion of intellect. Their crude notions of the age of 8 or 9 thousand years for the earth in its present form may have been swallowed easily by the biblical writers whose knowledge of science was primitive, but they cannot stand the criticism in the light of Hindu knowledge or modern scientific researches. Geologists ascribe an age of 50 to 60 millions of years for the earth in its present form while the Indian astronomers have given 1950 millions and odd years.

The Europeans, accustomed as they are, 'to a limited horizon', will find this past antiquity bewildering. According to the Hindus, the period elapsed since the creation of the world is 1955885045 years. Times are changing and matters are improving and even these souls will have to come out into a world in which centuries will be replaced my millen- niums. Mr. Baldwin says "The representation of some speculators that the conditions of human race since its first appearance on earth has been a condition of universal and hopeless savagery, down to a comparatively modern date, is an assumption merely, an unwarranted assumption used in support of an unproved and unprovable theory of man's origin."

Some of the British writers seem to be more intolerant in recognising the truths of Indian Sciences than other European writers. Some Orientalists gave the Puranas of Veda Vyasa the age of 15 or 16 hundred A.D. They are unwilling to acknowledge the antiquity of the Hindu culture. Rev. Marshman placed the age of Ramayana after Mahabharatha because he found in Ramayana, a verse which runs thus: "*Ramo Bhima parakramam*". Not knowing Bhima in Sanskrit means terrific, he took the word for "Bhima" mentioned in the Mahabharatha and concluded that Maha- bharatha must have taken place earlier than Ramayana. Col. Todd wished to ascribe to Krishna and other Yadavas, inheritance from Hercules and Athri to Attrius. Other dabblers wanted to make Rama the descendant of Romulus. They would like to prove that the heroes of the Mahabharatha learnt the art of fighting under Alexander of Macedon and thus curb the pride of the great Indian Anti- quity. Fortunately or unfortunately for them there was a sudden reaction in favour of the Indian Antiquity. Some of the Europeans saw the absurdities of these chronological

misconceptions into which their fellow-brethren had fallen. They nobly rose up to the duty they owed to their birth and began to find out the errors. The mathematical absurdities were even greater and they had to open rather very reluctantly in the beginning, their eyes to the dates given in the confounding number of inscriptions found all over India and the adjacent Provinces on which were given clearly stories of information which could not be contradicted. Mr. Louis Rice, Head of Archæological Researches in Mysore, for over a quarter of a century, has fallen into hopeless errors in Chronology. He was confronted by certain copperplate grants, granted by the Emperor Janamejaya and found in the posession of Brahmins in Shimoga. The lands conveyed to the Brahmins during the time of his *Sarpayaga* (serpent sacrifice) had fallen into great confusion and the powerful Hoysala Ballala Emperor, Bitti Deva or Vishnuvardhana (1104 to 1151 A.D.), set right the irregularities and renewed the grant out of respect to the Pandava Emperor Janamejaya. Ramanujacharya who came 11 centuries after Sankara the great Adwaita Philosopher, converted Bitti Deva from being a Jain to Vaishnava and the temple at Belur was revived on a grand scale by this Emperor. All these spoke of the authority of the Vedas, the Puranas, etc. Mr. L. Rice, quite incompetent to read the original *Sasanas* or inscriptions, had the ridiculous tact of calling the copperplate inscriptions given in *Kali years* 111 and 89 in plain terms, as clumsy forgeries and ascribed them later dates on his own authority, forgetting that he became more clumsy himself.

The original *Sasana* runs thus :

" *Thungabhadra- Haridrasangama Sri Harihara Devasannidhow KATAKAM UTKALITAM Chaitra masay krishna pakshay soma dinay, bharani mahanakshatre, etc.*,

—(*Vide* inscription 183, page 63, *Epigraphia Carnatika*, by L. Rice, Shimoga Dist. Vol. II.)

Translated, it means that at the confluence of the rivers Thunga, Bhadra and Haridra at the feet of God Harihara, in the year "KA, TA, KA" after Kali's advent on the dark half of the Lunar month Chaitra, on a Monday, in the great constellation of Bharani, the villages were given in gift to 32,000 Brahmins —enumerated below. Here Kataka is 111, KA meaning 1, from the rule KADINAVA, TA meaning 1, from the rule TADINAVA and again KA meaning 1. This when reversed according to the rule *Ankanam vamato gatihi* or numbers must be counted in reverse, becomes 111. That is, the year of this happening is 111 years after Kali or 5045—111=4934 years ago from the present year (1944 A.D.).

But Mr. L. Rice takes KATAKAM and adding MA it becomes 1115 and when this is reversed it will be 5111. He was puzzled at this great figure as he could not arrive at any definite conclusion and at once said that the copper-plates were clumsy forgeries. He thus takes an absurd position. In this case he has made himself a very clumsy archæologist. The complicated system of orthography in Sanskrit, its confusing etymology, its ever-varying syntax, its exhaustive prosody, its difficult pronunciation, its recondite philosophy, its numberless codes of laws, its unrivalled logic and its elaborate system of morals and religious codes are all matters of consideration for an European, before he can claim perfection to understand the Sanskrit language and interpret it correctly. This will be specially so when deciphering ancient inscriptions of four or five thousand years old.

Mr. L. Rice has committed such mistakes not only in this, but in every inscription which he could not understand easily.

Such is the part played by these oriental scholars who misinterpret the true meanings of the original writings and fall into confusions and contradictions.

Indian languages, sciences, manners, etc., are judged by aliens who are full of venom and jealousy. No arguments could be adduced against such illogical rasoning. Not being able to understand the complications of the vast knowledge of the Hindus. many of these European scholars and their Indian admirers found no other way except to bury them in the pits of oblivion, or mould them to fit their ethnical grooves. The expositions on these matters so well offered by the Hindu pandits were always matters of great difficulty to the European judges. In one single sentence some of the European investigators of Sanskrit Sciences and Vedas, transferred the whole lot to the regions of mythology and superstition. A huge misguided literature soon covered the face of the country in which the Orientalists went on doing as much mischief to the spirit of Hindu religion and sciences as their intelligent brains allowed them to do. But inconsistencies were discovered among their own conclusions owing to the controversies in which the European philologists, translators, lexicographers, etc., were engaged

and they had to seek the help of the Hindu pandits who were not after all as ignorant as their Western brethren, to find out the exact meaning and they soon came to recognise the existence of some higher truths in the Indian sciences which came as a surprise upon their researches.

Dr. Kern is no exception to this rule. He was the Editor of the *Brihat Samhita* of Varaha-mihira, *Bibliotheca Indica Series* printed in 1865 and the Principal of the Sanskrit College, Benares, the immemorial seat of learning in India. His *Brihat Samhita* covers an Introduction of 64 pages of closely printed matter throughout which he tries to find out the age of Varahamihira and at last fixes it somewhere in the 5th century A.D.

Dr. Kern has fallen into a lot of confusion and errors in his speculations after Varahamihira's age. He seems to have fixed the age of this great man on his imagination, quoting a score of his own countrymen as authorities and seems to have completely ignored stanza 3 of Chapter XIII of *Brihat Samhita* in which as if to mock wilfully at these intellectual imposters, Varahamihira himself gives his age and defends his argument by quoting an incontrovertible astronomical phenomenon. These gentlemen seem to attach more importance to exaggerations and criticisms without caring to pursue beforehand the contents of the literature on which they wish to write elaborate criticisms. Can the criticisms be justified when Dr. Kern did not read the *Brihat Samhita*.

Kalidasa, the immortal Hindu poet and dramatist says thus in his *Jyotirvidabharana*, one of the finest books on astrology,

"Dhanvantari, Kshapana Komara Simha Sanku
Bhetalabhatta Ghatakarpara Kalidasaha !
Khyato Varahamihira nripathe ssabhayam
Ratnani vai vararuchirnava Vikramasyat."

In this stanza he clearly gives the names of the nine intellectual gems who graced the illustrious court of Vikramaditya and the word *khyata* or celebrated is specially attributed to Varahamihira who seems to have been an elderly pandit at that time.

Some historians state that this Vikramaditya belonged to the Gupta period who lived in the 3rd or 4th century A.D. Vikramaditya the founder of the Saka after his name is not a mythical person. Meadows Taylor observes thus in his *History of India*, page 54 : "The greatest Indian monarch of the first century before Christ was Vikramaditya, a prince of the Andhra Dynasty, which both at Magadha, to which it succeeded, and at Warungal, south of Godavery River, which it founded, rose to great power, and rules over Malwah and Central India, at Magadha for seven centuries. The commencement of the reign of Vikramaditya B.C. 56 was established as a Hindu Era and is still continued. He was a very popular and enlightened ruler, and at his court, literature was highly patronised, many of the best Hindu plays, poems and philosophical works having been there composed."

The modern historians simply ignore facts by incorporating this monarch who lived in 56 B.C. with the Vikramaditya of the Gupta period. It is absurd to create confusions on the founders of Śakas or Eras. It will be seen that all the Eras run continuously and if this is once questioned the whole fabric of history will collapse and confusion would reign supreme. Eras founded after the name of Kali, Yudhistara, Christ, Salivahana, Buddha, etc., have been correctly recorded in the Indian almanacs. Ujjain was the famous capital of Vikramaditya in his days of glory and power. The astronomers of Ujjain were highly admired by Alburruni, the famous Arabian scholar who sat at the feet of the Brahmin astronomers at Ujjain. Astronomers have recorded the Samvat Śaka very correctly, and there cannot be the slightest doubt about the prosperous reign of this glorious monarch, than whom there was no greater patron of arts, literature and sciences either in ancient or in modern times.

Verse 3 of Chapter 13 of *Brihat Samhita* runs thus :

Aseen makhasu muniyahu, sasati prithvim
Yudhistare nripathou, shad dwikpancha,
dwiyutha saka, vatsare thasya ragnasya.

Mr. Chidambara Iyer's translation runs thus:

"During the reign of Yudhistara 2526 years before the commencement of Vikrama Śaka, the Saptha Rishis were at the constellation, Magha (Regulus).

Mr. Iyer has introduced the word Vikrama, when the original simply mentions Śaka. It would have been more honest and true to his translation, had he not introduced the word Vikrama and thus got the whole meaning misinterpreted. It is a pity even an educated Indian gentleman of his learning should misinterpret the original stanza and introduce new words which are not in the original.

Mr. Harbilas Sarda translates this stanza thus in his *Hindu Superiority*.

"The reign of Yudhistara may be obtained by adding 2526 to the Salivahana Era."

He has also fallen into an error by introducing the word Salivahana, when the original simply mentions Śaka.

The above stanza translated means that if we add 2526 to the present *Śaka* which obtained in Varahamihira's time they would get the Yudhishtira Śaka and to make the meaning clear and unerring he gives an astronomical fact that the *Sapta Rishis* (the Great Bear) were in Makha.

Now the controversy lies in knowing exactly what Śaka prevailed then. After Vikrama Śaka now known in Northern India as *Samvat*, some of the writers used this term and others simply observed the Era as Śaka, by which we have to understand by collateral evidence, which Śaka or Era they meant. After Salivahana, two Eras ran concurrently. But before Vikrama (B.C. 56), writers have used the term Śaka for purposes of indicating Eras and we have no reason to give them later dates to interpret Śaka and make it fall into either of these two. It is clear from Kalidasa that Varahamihira was his contemporary and was living in the time of Vikramaditya, the founder of Śaka after his name. Varahamihira and Kalidasa graced the Court of Vikramaditya as two of the nine literary gems and Varahamihira and himself were contemporaries. Dr. Kern places *Jyotirvidabharana* in 33 B.C., but strangely he falls into the unpardonable error of placing Varahamihira in the 5th century A.D. Can ignorance go beyond this? Speculation as to the relative ages of these authors are useless. When the authors have given in clear language the dates of their time, speculations without reading them will be disgraceful perversions.

The trustworthiness of Ujjaini astronomers is not only exemplified by the fact that others of its dates admit of verification but also in a striking manner by the information we get from Alburruni. Dr. Kern's argument is faulty. European authorities quoted by him are equally faulty. Varahamihira gives his date once for all in his *Brihat Samhita*. Dr. Kern and others did not read *Brihat Samhita*. Great pity for them. Stanza 3 of Chapter XIII of *Brihat Samhita* clearly gives the age.

As Varahamihira lived in Vikramaditya's time, the Śaka prevailing then must have been Buddha's and the following few calculations will give approximately the age of Varahamihira.

Buddha's Era	.. ..	543 B.C.
Founding of Vikrama Śaka		56 B.C.
		487 B.C.

Buddha Śaka prevailed before Vikrama. Adding 2526 to this we get 3013. Yudhistira Śaka was 3013 years. Yudhistira Śaka now 5033 as can be seen from *panchangas*. It is now clearly admitted that the age of the commencement of the present Kaliyuga is 5045 years ago.

The *Siddhanta Siromani* says, that Kaliyuga Era, at the time of the establishment of the Salivahana Era, was 3179. The Salivahana Śaka at present (1944 A.D.) is 1866. The Kaliyuga should now be 3179 + 1866 = 5045. Yudhistira was the eldest son of Pandu. It is certain that his Śaka began after the victory of the Pandus against Kurus. The palm-leaf records of Jagannath assert that Dharma Raja ruled for 12 years after the great war and was succeeded by Parikshit. So subtracting 12 from the Kali Era, the present Era 5033 becomes the Yudhistira Era.

Subtracting 3011 years we get 2022 years. Varahamihira lived 2022 years before the present year (1944 A.D.) or Vikrama founded his Śaka in 56 B.C., in the 12th year of his reign as a memory of the great battle, which he won against the Śakas and Hunas, who invaded India with incredible numbers and more than 50 lacs of whose troops he killed in this terrible fight. I shall try to explain the astronomical phenomena given by Varahamihira to prove the truth of my observations. No one has any authority to misinterpret the astronomical phenomena.

श्री:

P. S. Sastri
M.A., M.Litt., Ph.D., D.Litt.,
(Retd. Prof. & Head Dept. of English,
University of Nagpur.)

59, Vidya Vihar,
Pratap Nagar,
NAGPUR-440 022.

Ref. :

Date 17.9.'84.

Dear friend,

Your [illegible] letter. [illegible] Āghasana states 3068 Kali era the [illegible] Varahamihira and others. It comes to 34 B.C. I accept it on other grounds as well. But I have no material other than this for the [illegible].

Yours Ever,

P. Sastri

द्वितीय अध्याय

-0-

आचार्य वराहमिहिर का जीवन परिचय एवं कृतित्व

(क) वराहमिहिर का परिचय ।

(ख) आचार्य के इष्ट देवता ।

(ग) वराह नाम पड़ने के कारण
तथा ग्रहणादि विषयों में
आचार्य का स्वतन्त्र मत ।

(घ) पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों का खण्डन एवं
उनके प्रति सम्मान ।

कृतित्व

(क) जातकार्णवादि ग्रन्थ ।

(ख) पञ्चसिद्धान्तिका ।

(ग) योगयात्रा ।

(घ) लघुजातक ।

(ङ०) बृहज्जातक ।

(च) बृहत्संहिता ।

(छ) दैवज्ञवल्लभा ।

—

द्वितीय अध्याय
-0-

आचार्य वराहमिहिर का जीवन परिचय एवं कृतित्व

आचार्य वराहमिहिर ने कहीं भी अपना समय,स्थान तथा परिचय के रूप में कुछ भी नहीं लिखा है। उनके सभी ग्रन्थों में प्राय: जन्म स्थान एवं तात्कालिक किसी भी राजा आदि के विषयों में कुछ भी नहीं लिखा गया। बृहज्जातक ग्रन्थ के उपसंहाराध्याय में अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए लिखते हैं कि उज्जैन के पास कपित्थ नामक ग्राम के निवासी आदित्य दास के पुत्र उन्हीं से विद्या का अध्ययन कर सूर्य से वर प्राप्त कर वराहमिहिर ने पूर्व काल के मुनियों के ग्रन्थों को देखकर यह सुन्दर होरा ग्रन्थ बनाया गया है।[1] आचार्य के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके पिता का नाम आदित्यदास था तथा ये उज्जैन के निवासी थे, कापित्थक शब्द के स्थान में बृहज्जातक की किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में काम्पिल्य शब्द मिलता है।[2] काम्पिल्य शब्द को कतिपय विद्वान् वराहमिहिर का गोत्र मानते हैं। किन्तु इस काम्पिल्य शब्द को महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने उत्तर प्रदेश का कालपी स्थान माना है।[3] किन्तु यह गलत है, कालपी कालप्रियानाथ का अपभ्रंश है। वराहमिहिर के सभी ग्रन्थों की (पञ्चसिद्धान्तिका को छोड़कर) टीका करने वाले भट्टोत्पल ने वराहमिहिर को मागध ब्राह्मण कहा है। शुकदेव चतुर्वेदी[4] ने भी भट्टोत्पल का अनुकरण करते हुए `दैवज्ञवल्लभा` नामक प्रश्न शास्त्र में लिखा है कि वस्तुत: वराहमिहिर का जन्म मगध में हुआ था तथा वे सूर्योपासक मागध ब्राह्मण थे। उन्होंने अपने पिता से ज्योतिषशास्त्र की शिक्षा दीक्षा प्राप्त की। आजीविका के लिये उज्जयिनी जाते समय कानपुर एवं झांसी के कालपी में भगवान् सूर्य ने उन्हें वरदान दिया तथा उज्जयिनी में उन्होंने प्राचीन महर्षियों एवं मनीषियों के ग्रन्थों का अच्छी तरह मनन कर लघुजातक, बृहज्जातक,

---

१- बृहज्जातक उपसंहाराध्याय - ६

२- वही

३- गणकतरङ्गिणी, पृ० १३

४- राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, ज्योतिष विभाग

विवाहपटल, बृहत्संहिता, योग मार्ग, दैवज्ञवल्लभा एवं पञ्चसिद्धान्तिका नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की ।[१] वस्तुत: यदि वराहमिहिर ने सूर्य की उपासना की होगी तो मालवा मन्दसौर में । मन्दसौर में कुमार गुप्त के समय पट्टवाय श्रेणी ने सूर्य मन्दिर का उद्धार कराया था, उनका मालव संवत् ५२६ का शिलालेख प्राप्त है, मन्दिर और पहले का रहा होगा ।[२] दूसरे मन्दिर भी हो सकते हैं । कालपी झांसी के सूर्य मन्दिर का इतिहास नहीं मिलता ।

प्राचीन ज्योतिष आचार्यों के ग्रन्थ आज उपलब्ध न होने से यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है कि वराहमिहिर से पूर्व कितने आचार्य त्रिस्कन्धज्ञ थे किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि आचार्य से पूर्व ज्योतिष शास्त्र अनेक भागों में विभक्त था । ज्योतिष शास्त्र के होरा, सिद्धान्त संहिता, प्रश्न मुहूर्त, शकुन आदि विभाग थे । किन्तु आचार्य वराह मिहिर ने तथा इनसे पूर्व नारद ने ज्योतिष शास्त्र के तीन भागों को ही स्वीकार किया । नारद संहिता में सिद्धान्त संहिता एवं होरा यही तीन रूप माना गया है ।[३] इसी भेद को स्वीकार करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने भी अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में प्रश्न, मुहूर्त, शकुन, यात्रा, विवाह आदि को संहितान्तर्गत मानते हुए ज्योतिष शास्त्र के तीन ही स्कन्धों को स्वीकार किया है ।[४]

१- दैवज्ञवल्लभा १५ । ४२

२- अभिलेखमाला

३- नारद संहिता - यथा

सिद्धान्त संहिता होरा रूपस्कन्धत्रयात्मकम् ।
वेदस्य निर्मलं चक्षु: ज्योतिषशास्त्रमकल्मषम् ।।

४- ज्योतिष शास्त्र अनेक भेद विषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितम् ।
तत् कार्त्स्न्यो पनयस्यनाममुनिभि: संकीर्तित संहिता ।।

- बृहत्संहिता १। ६

आचार्य वराहमिहिर से पूर्ववर्ती गर्गादि ऋषि भी स्कन्ध त्रय के ज्ञाता हुए किन्तु इन ऋषियों के सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं । आचार्य वराहमिहिर ही एक ऐसे श्रेष्ठ त्रिस्कन्धज्ञ हुए हैं जिन्होंने अपने ज्योतिष के ग्रन्थों में तीनों स्कन्धों का विधिवत् निरूपण किया है । आचार्य वराहमिहिर से परवर्ती आजतक कोई भी ऐसा आचार्य नहीं हुआ जिसने ज्योतिष शास्त्र के तीनों स्कन्धों पर अपनी लेखनी उठाया हो । आचार्य वराहमिहिर अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में ज्योतिष के आचार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि यह कहना कि यह ग्रन्थ ऋषियों के द्वारा बनाया हुआ है तथा यह ग्रन्थ मनुष्य निर्मित है अत: अमुक ग्रन्थ ठीक नहीं है यह बात समीचीन नहीं है क्योंकि यदि पितामह सिद्धान्त में यह कहा गया है कि क्षितितनय वार शुभ नहीं होता और मनुष्य कृत ग्रन्थों में कुज दिन अनिष्ट है यह कहा जाय तो यहां देवता और मनुष्य के ग्रन्थों में क्या विशेषता है । त्रिस्कन्धज्ञ की प्रशंसा करते हुये आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि जो व्यक्ति गणित स्कन्ध में सुष्ठु ज्ञान रखता है तथा लग्न आदि छाया शङ्कु आदि के माध्यम से अथवा जल घटिका इत्यादि से सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा होरा, संहिता का सम्यक् ज्ञान रखता है उसकी वाणी मिथ्या कभी नहीं होती ।[१]

ज्योतिष शास्त्र के महत्व को प्रतिपादित करते हुये आचार्य अपनी गर्वोक्ति रखते हुए कहते हैं कि तैरता हुआ मनुष्य हवा के वेग से समुद्र को पार कर सकता है किन्तु काल पुरुष संज्ञक ज्योतिष शास्त्र स्वरूप महा समुद्र को ऋषियों के अतिरिक्त मनुष्य मन से भी नहीं प्राप्त कर सकता है ।[२]

गोविन्द सोमयाजी नामक आचार्य ने बृहज्जातक के आरम्भ की दश अध्यायों की टीका की है । इसलिये उन्होंने अपनी टीका का नाम दशाध्यायी रखा है । उनका कहना है कि आचार्य वराहमिहिर जो कुछ कहना

१- बृहत्संहिता, अध्याय २।३

२- वही

चाहते हैं वह इन्हीं दस अध्यायों में ही उपन्यस्त किये हैं। बृहज्जातक के दस अध्यायों के अतिरिक्त कुछ प्रमुख अध्यायों की टीका भी सोमयाजी जी ने की है। इसी प्रकार श्री रुद्र ने अपने विवरण नामक पुस्तक जिसमें उन्होंने दशाध्यायी से अधिक सहायता ली है, वह दशाध्यायी से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि वह वराहमिहिर के उन गूढार्थों को पकड़ा है जो दशाध्यायी के लेखक की पकड़ से छूट गयी है।

शुकदेव चतुर्वेदी ने लिखा है कि बृहज्जातक संक्षिप्त होते हुए भी व्यापक गम्भीर अर्थ वाला है, उसका अर्थ प्रतिभावान् व्यक्ति के लिये भी दुर्गम है अत: आचार्य भट्टोत्पल आदि की टीकाओं को देखकर दैवज्ञ उसके अर्थ को स्पष्ट करें।[1] आगे उन्होंने लिखा है वराहमिहिर के मुख से विनिर्गत होरा शास्त्र को जो दैवज्ञ माला की तरह कंठ में धारण करते हैं और जो कृष्णीय शास्त्र को मङ्गल सूत्र की तरह सदैव कंठ में धारण करते हैं उनकी विद्वत् सभा में शोभा बढ़ती है।[2]

भारतीय परम्परा के अनुसार महाकवि कालिदास एवं उज्जैन का घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक अनुश्रुति के अनुसार उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के युग में संस्कृत की पर्याप्त उन्नति हुई थी। "काले श्री साहसाङ्कस्य के न संस्कृत-वादिन:" तथा ज्योतिर्विदाभरणम् ग्रन्थ के अनुसार - विक्रमादित्य की राजसभा में नौ रत्न थे जो अपने क्षेत्र में ज्ञानपथ के निर्माता थे।[3] राजशेखर ने भी एक परम्परित श्लोक उद्धृत किया है तदनुसार पटना में शास्त्रकारों की उज्जैन में कवियों की परीक्षा होती थी। "श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकार परीक्षा,

---

१- प्रश्नमार्ग १। २८

२- वही १। २६

३- धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघट खर्परकालिदासा:।
ख्यातोवराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

इहकालिदास नेष्ठावत्रामरसुपसुरमारवय: हरिश्चद्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह: विशालायाम्।[१] इनमें से कुछ के बारे में सूचना मिलती है और जिनके बारे में मिलती है वे अपने क्षेत्र में अग्रणी थे। कालिदास एवं अमर सिंह का तो स्पष्ट ही दोनों स्थानों पर स्मरण किया गया है। इन दोनों की कालजयी कृतियों से समूचा संस्कृत संसार परिचित है। कालिदास के कुन्तलेश्वर दौत्य की चर्चा राजशेखर, क्षेमेन्द्र एवं भोज करते हैं। राजशेखर के अनुसार तब तक तीन कालिदास हो चुके हैं। तीनों ही शृङ्गार तथा ललितोद्गार में अनोखे थे। कृष्ण चरित काव्य के अनुसार एक कालिदास विक्रमादित्य के समय, दूसरे समुद्रगुप्त के समय हुए थे। इस काव्य के अनुसार वीररसपूर्ण शूद्रकजय का रचयिता एवं कश्मीर का राजा मातृगुप्त भी उज्जयिनी का ही था। अमर सिंह का अमरकोष आज भी कोष-परम्परा में मानदण्ड माना जाता है घटकर्पर का एक छोटा-सा यमक ग्रन्थ प्राप्त होता है जो ज्ञात परम्परा में पहला तुकान्त संस्कृत काव्य है। वररुचि के कण्ठाभरण काव्य की चर्चा राजशेखर ने की है। वररुचि का उभयाभिसारिका भाण अवश्य मिलता है इनके स्वर्गारोहण काव्य का उल्लेख भी प्राप्त होता है। कथासरित्सागर के अनुसार इनका गोत्र कात्यायन था। कात्यायन के वार्तिक प्राप्त होते हैं। कात्यायन के अनुसार शास्त्रकार वररुचि की परीक्षा पाटलिपुत्र में हुई थी।

वराहमिहिर उज्जैन से १५ कि० मी० पूर्व में कालीसिन्ध के तट पर बसे कायथा के निवासी आदित्यदास के यशस्वी पुत्र थे। ये ५०५ ई० में विद्यमान थे। मन्दसौर के औलिकर राजा द्रव्यवर्धन[१] के शकुन ग्रन्थ का वराहमिहिर ने उपयोग किया था। वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस् ने ज्योतिष ग्रन्थ षट्पञ्चाशिका की रचना की थी। वराहमिहिर मन्दसौर के सुप्रसिद्ध औलिकर राजा यशोधर्मा के समकालीन थे। ज्योतिष शास्त्र में वराहमिहिर के ग्रन्थ आज

१- बृहत्संहिता ८६।२

भी मानदण्ड माने जाते हैं।[१]

शंकरबालकृष्ण दीक्षित का कथन है कि वराहमिहिर ने सर्वप्रथम करण ग्रन्थ बनाया परन्तु उनकी बृहत्संहिता से ज्ञात होता है कि बाद में उनका ध्यान फलित ज्योतिष की ओर विशेषत: नाना प्रकार के सृष्टि चमत्कार, पदार्थों के गुण धर्म के ज्ञान एवं उनके व्यवहार में उपयोग करने की ओर अधिक आकृष्ट हो गया था। ब्रह्मगुप्त ने प्राचीन ज्योतिषियों में बहुत से दोष दिखलाये हैं। परन्तु वराहमिहिर को कहीं भी दोष नहीं दिया।[२] भास्कराचार्य ने उनकी स्तुति की है अन्य अनेकों ग्रन्थकारों ने उनके वचन प्रमाण रूप में उद्धृत किये हैं। सृष्टि शास्त्र की इस एक शाखा ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थ बहुतों ने बनाये हैं पर उसकी अनेक शाखाओं का विचार करने वाला ज्योतिषी वराह के बाद दूसरा नहीं हुआ ऐसा कह सकते हैं। इतने प्राचीन काल में हमारे देश में ऐसे मनुष्य का उत्पन्न होना सचमुच हमारे लिये भूषण है।[३] षट्पञ्चाशिकाकार पृथुयशस आचार्य वराहमिहिर के पुत्र थे। जैसा कि उन्होंने अपने ग्रन्थ षट्पञ्चाशिका में कहा है।[४]

१- मध्य प्रदेशानाम् संस्कृता वदानम् नामक पत्रिका में श्री भागवती लाल राज पुरोहित ने मालवा का संस्कृत अवदान नामक शीर्षक में उपर्युक्त बातें कही है। यह बिलासपुर से २०-२१ जून १६८६ को प्रकाशित हुई है।

२- वराहमिहिर ग्रहण का कारण भूच्छाया और चन्द्रमा में प्रविष्ट राहु नहीं बतलाते इसलिए ब्रह्मगुप्त ने उन्हें दोष दिया है, पर वह वास्तविक दोष नहीं है और ब्रह्मगुप्त का उद्देश्य वास्तव में दोष देने का नहीं है।

३- भारतीय ज्योतिष : शंकरबाल कृष्ण दीक्षित, पृष्ठ २६७

४- षट्पञ्चाशिका, श्लोक १

आदित्यदास तनय वराहमिहिर को अवश्य ही सूर्य का वरदान प्राप्त था जैसा कि उन्हीं के कथन सवितृलब्धवरप्रसाद: से स्पष्ट हो जाता है। आचार्य वराहमिहिर ने अपने सम्पूर्ण ग्रन्थों का मङ्गलाचरण भगवान् सूर्य की स्तुति से ही किया है। बृहज्जातक के आरम्भ में सूर्य की स्तुति करते हुए आचार्य अपने पाण्डित्य का पूर्ण परिचय देते हैं --

> मूर्तित्वे परिकल्पितश्शशभृतो वर्त्मापुनर्जन्मना -
> मात्मेत्यात्मविदां क्रतुश्च यजतां भर्तामरज्योतिषाम् ।
> लोकानां प्रलयोद्भवस्थितिविभुश्चानेकधा य: श्रुतौ
> वाचं नस्स ददात्वनेककिरणस्त्रैलोक्य दीपो रवि: ॥[1]

इस श्लोक में सर्वप्रथम मूर्तित्व शब्द से सभी ग्रहों के दृश्यादृश्य का कारण सूर्य को सूचित किया है। शशभृत: शब्द से चन्द्रमा को प्रकाश शून्य एवं सूर्य की किरणों के सम्पर्क से प्रकाशित होने की सूचना दी है। आचार्य ने इस बात को बृहत्संहिता में भी स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है।[2] पुनर्जन्मनाम् शब्द से मोक्षगामी जनों के मार्ग की सूचना देते हैं क्योंकि सूर्यमण्डल का भेद करके ही लोग परमपद को प्राप्त करते हैं।[3] क्रतुश्चयजतां शब्द से भगवान् विष्णु का सङ्केत करते हैं।[4] प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने शार्दूल विक्रीडित छन्द का प्रयोग किया है। इस छन्द के लक्षण सूर्याश्वै आदि से द्वादश राशियों का एवं ७ ग्रहों का सङ्केत होता है। इसके एक पाद में उन्नीस अक्षर हैं अत: उन्नीस

१- बृहज्जातक १।१

२- त्यजेता कैतलम् शशिन: -- बृहत्संहिता ४।३

३- सूर्यद्वारेण ते विरजा: प्रयान्ति यत्रामृत: स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ।
- मुण्डकोपनिषद्

४- यज्ञो वै विष्णु:

वर्षों में बारह राशियों का भोग करने वाले राहु केतु का भी आचार्य स्मरण करते हैं । इस श्लोक में कुल १२० मात्राओं से विंशोत्तरी महादशा की ओर सङ्केत करते हैं ।

श्री निवास राघव अय्यङ्गर वराहमिहिर को अपने अपने नाम में वराह सम्मिलित करने के कारण वैष्णव नहीं मानते बल्कि उनकी रचनाओं में विष्णु को सूर्य का रूप माना गया है । जैसा कि उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट हो जाता है । एक समय भारत तथा पश्चिमी एशिया में सूर्य-पूजा व्यापक रूप में फैली थी इसी कारण अपने नाम में विष्णु (वराह) और सूर्य (मिहिर) दोनों के नामांश रखे हैं । प्रसिद्ध हूण शासक मिहिर कुल अपने को सूर्य वंश से जोड़ने के कारण ही अपने नाम में मिहिर शब्द रखा था ।[1] आचार्य वराहमिहिर पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ के मङ्गला चरण में भगवान् सूर्य को तथा अपने पिता आदित्य दास की स्तुति करते हैं । अत: इससे भी स्पष्ट होता है कि इनके पिता एवं गुरु भिन्न-भिन्न थे ।[2] बृहत्संहिता के ग्रन्थारम्भ में भी आचार्य ने भगवान् सविता की स्तुति करते हुये अपने ग्रन्थ का आरम्भ किया है ।[3] योगयात्रा में भी सूर्य की स्तुति से ग्रन्थारम्भ किया है ।[4]

आचार्य वराहमिहिर वैष्णव थे या शाक्त या अन्य उपासक यह विवाद का विषय है । उज्जयिनी का निवासी होने के कारण आचार्य को काली

१- वराहमिहिर होरा शास्त्रम् - के० वी० रङ्गस्वामी - भूमिका, पृष्ठ ७ ।

२- दिनकरवशिष्ठपूर्वान् विविधमुनीन् भावत: प्रणम्यादौ ।
जनकं गुरुं च शास्त्रे येनास्मिन्न: कृतो बोध: ।।
- पञ्चसिद्धान्तिका - १

३- बृहत्संहिता - १।१

४- योगयात्रा १।१

अथवा शिव का उपासक होना चाहिये, लेकिन आचार्य की प्रसिद्ध रचनाओं में कहीं भी शिवजी अथवा काली जी की उपासना का सङ्केत नहीं मिलता । जबकि महाकवि कालिदास जिन्हें कुछ विद्वानों ने वराहमिहिर का समकालीन माना है, उज्जयिनी के निवासी होने से अपने महाकाव्यों अथवा नाटकों में भगवान् शिव की ही वन्दना करते हैं एवं काली के अनन्य उपासक रहे हैं। किन्तु आचार्य वराहमिहिर अपने ग्रन्थों में सर्वत्र ही भगवान् सूर्य की स्तुति से ग्रन्थारम्भ करते हैं। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है वराहमिहिर वैष्णव थे एवं पूर्णरूपेण सूर्योपासक थे। आचार्य की रचनाओं से हमें इस प्रकार शैव या शाक्त का कोई सङ्केत नहीं मिलता। केवल सूर्य की प्रशंसा एवं सूर्य को विष्णु का समरूप मानने से उनका झुकाव सूर्य के प्रति था यह स्पष्ट है। अय्यङ्गर का कथन है कि वराहमिहिर के समय में अलवर के क्षेत्र में वैष्णव सन्तों का बाहुल्य था जिससे वराहमिहिर अछूते न रहे होंगे। अय्यङ्गर इसी आधार पर आचार्य को वैष्णव स्वीकार करते हैं।

आचार्य वराहमिहिर की प्रसिद्ध कृति बृहत्संहिता से यह बात अधिक सुस्पष्ट हो जाती है कि आचार्य वराहमिहिर पूर्णरूपेण वैष्णव थे क्योंकि बृहत्संहिता में आचार्य ने चैत्रादि बारह महीनों के नाम वैष्णव परक ही रखे हैं[१]।

अनुश्रुति के आधार पर सर्वप्रथम आचार्य का नाम मिहिर मात्र था। किसी समय विक्रमादित्य के दरबार में रहते हुये आचार्य मिहिर ने भविष्यवाणी की कि विक्रमादित्य की मृत्यु एक शूकर के द्वारा होगी। कहा जाता है कि विक्रमादित्य वराहमिहिर के इस भविष्यवाणी को असत्य सिद्ध करने के लिए अपने सशस्त्र सैनिकों को आदेश दिया कि कोई भी हिंसक पशु राज्य सीमा में प्रवेश न करने पाये। इस प्रकार राजा अपनी पटरानी के साथ निश्चिन्त होकर महल के अन्तिम मंजिल पर टहलने लगे। कहते हैं कि जब मिहिर के द्वारा बताया हुआ

१- बृहत्संहिता, अध्याय १०५। १४-१५

अभीष्ट समय व्यतीत होने लगा उसी समय राजा विक्रमादित्य दीवाल का सहारा लेकर प्रफुल्लित मुद्रा में अवस्थित हो गये । ठीक उसी समय दीवाल जहां एक शूकर का चित्र था टूटकर गिर गयी तथा राजा का तत्क्षण प्राणान्त हो गया । आचार्य मिहिर की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई तथा उसी समय से इनके नाम के पूर्व वराह शब्द जोड़ दिया गया ।

आचार्य वराहमिहिर की विशेषता थी कि उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों का नाम अत्यधिक आदर के साथ लिया है । उन्होंने अत्रि[1],गर्ग , बादरायण, भागुरि, भारद्वाज, द्रव्यवर्द्धन, भृगु[2], च्यवन, देवल, देवस्वामी, वृद्धगर्ग, गौतम, जीव शर्मा, काश्यप, माण्डव्य, मणित्थ, मय, नारद, पाराशर, पौलिश,पितामह, ऋषिपुत्र, सत्याचार्य, सारस्वत, सिद्धसेन, उशना[3], वज्र, वशिष्ठ, विष्णुगुप्त असित, यवन इत्यादि नामों के आचार्यों एवं उनके मतों का यत्र-तत्र उल्लेख किया है ।

पूर्वोक्त आचार्यों के कथनों का स्थान स्थान पर वराहमिहिर ने संशोधन भी किया है । वह एक स्वतन्त्र चिन्तक ही नहीं थे अपितु दूसरों को स्वतंत्र चिन्तन की प्रेरणा भी देते थे इसीलिए उनकी रचनाओं में प्राचीन सिद्धान्त को लेकर प्रश्न किये गये हैं जिसका उत्तर देने के लिये पाठक को खुद सोचना पड़ता है । वे पुराणों में वर्णित ग्रहण के नियमों का खण्डन करते हैं । और वास्तविक कारण बताने का प्रयास करते हैं[4] । यह सिर्फ वराहमिहिर के ही सामर्थ्य की

१- बृहत्संहिता ४५ । १

२- वही ८५ । ४३

३- योगयात्रा ५ ।३

४- मुच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः ।
प्रग्रहणमतः पश्चान्नेन्दो भानोश्च पूर्वार्धात् ।।
- बृहत्संहिता ५। ८

बात थी जो पुराणों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का खण्डन कर सकते थे । वास्तव में वह चाहते थे कि उनके ग्रन्थों के अध्येता मौलिक प्रश्नों पर खुद सोचे एवं उचित समाधान ढूढ़ने में समर्थ हो । वे अपनी रचनाओं में पूर्ववर्ती लेखकों का उद्धरण देते हैं किन्तु जब वे ऐसा करते हैं तो उनका आशय यह कदापि नहीं होता है कि उनके पाठक पूर्ववर्ती आचार्यों का उपहास करें बल्कि अपने गहन चिन्तन के आधार पर प्रस्तुत तर्कों से प्रश्न के मूल में जाने का प्रयास करते हैं । जैसे जब वह प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित वज्र एवं यव योगों की चर्चा करते हैं तो वह उसे यथा रूप स्वीकार नहीं कर लेते अपितु वे प्रश्न करते हैं कि इन योगों को बनाने के लिए बुध एवं शुक्र सूर्य से चौथे स्थान तक कैसे पहुंच सकते हैं यह वास्तव में असम्भव है,[१] लेकिन ऊंचे अक्षांश पर ये दोनों ग्रह सूर्य से चौथे भाव में हो सकते हैं इसलिए आचार्य ने पूर्व शास्त्रानुसारेण ऐसा कहा है । आचार्य वराहमिहिर इस बात से सर्वथा भिज्ञ थे कि भारतवर्ष में ऐसा सम्भव नहीं है । गोविन्द सोमयाजी नामक आचार्य का यहां तक कहना कि भगवान् सूर्य ने ही स्वयं वराहमिहिर के रूप में अवतरित होकर ज्योतिष शास्त्र का विकास किया ।

आचार्य वराहमिहिर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की प्रतिष्ठा यत्र तत्र सर्वत्र करते हैं । कतिपय आचार्यों के सिद्धान्तों को जिसे वे अनुपयुक्त समझते हैं उसका खण्डन भी करते हैं । अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में आचार्य वराहमिहिर ने यवन राज की प्रशंसा की है,[३] वे यूनानी फलित ज्योतिष के प्रति उदार थे । वे लिखते हैं कि यवन सचमुच म्लेच्छ है और यह शास्त्र उनमें सम्यक् रूप से व्यवस्थित है, यवन भी पूजित है मानो वे भी ऋषि हों । तब फलित ज्योतिष के पंडित किसी ब्राह्मण के विषय में क्या कहा जाय वह तो उनसे अधिक अवश्य ही पूजित

१- बृहज्जातक १२ । ५-६

२- गोविन्द सोमयाजी विरचित दशाध्यायी

३- बृहत्संहिता २। १५

होगा । यहां पर शास्त्र शब्द होरा शास्त्र का द्योतक है । किन्तु वराहमिहिर ने अन्यत्र अपने अन्य किसी ग्रन्थों में ऐसी प्रशंसा यूनानियों के विषय में नहीं की है, तथा उनके ज्योतिष शास्त्र एवं गणित की योग्यता की चर्चा कहीं भी नहीं की है । उन्होंने यूनानियों को ज्योतिष शास्त्र के विषय में कोई मान्यता नहीं दी और न उनके सिद्धान्तों का कोई आधार माना । उन्होंने अपने फलित ज्योतिष सम्बन्धी ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों की सन्निधि में कोई ग्रीक (यूनानी) शब्द नहीं प्रयुक्त किया है ।[१] वराहमिहिर के यवनों के प्रशंसा सम्बन्धी कथन से स्पष्ट है कि यवन ज्योतिष परम्परा एवं भारतीय ज्योतिष परम्परा एक नहीं थी और यवनों ने ज्योतिष पर संस्कृत में ग्रन्थ लिखे थे । वराहमिहिर ने स्पष्ट रूप से कई बातों पर यवनों से विरोध प्रकट किया है यथा -- यवनों के मतों के अनुसार सभी ग्रह होरा (राशि के अर्धांश) के स्वामी हो सकते हैं । किन्तु बृहज्जातक[२] में ऐसी बात नहीं है । यवनों के अनुसार चन्द्रमा कभी भी हानिकर ग्रह नहीं है किन्तु बृहज्जातक इसे कुछ बातों में अहितकर मानता है ।[३] यवनों ने मङ्गल को सात्विक ग्रह माना है किन्तु आचार्य वराहमिहिर ने इसे तामसी ग्रह स्वीकार किया है ।[४] यवनों के अनुसार ग्रह आपस में मित्र या शत्रु हो सकते हैं जब कि आचार्य वराहमिहिर का कथन है कि ग्रह आपस में मित्र शत्रु तो हो ही सकते हैं ये सम भी हुआ करते हैं ।[५]

यवनाचार्य एवं वराहमिहिर ग्रहों की तात्कालिक मित्रता एवं शत्रुता के विषय में मतैक्य नहीं रखते । यवनों ने वक्र योग की चर्चा की है, वक्र-

---

१- धर्मशास्त्र का इतिहास - चतुर्थ भाग

२- बृहज्जातक १।११-१२

३- वही २।५

४- वही २।७

५- वही २। १५

योग को स्वीकार किया है परन्तु आचार्य के मत से ऐसा योग असम्भव है । यवनों के मत से केवल कुंभ द्वादशांश अशुभ है किन्तु वराहमिहिर ने इसमें दोष दिखाते हुए लिखा है कि कौन ऐसी राशि है जिसमें कुम्भ का द्वादशांश न हो अत: द्वादश - राशियों में से कोई भी राशि जातक के लिये शुभकारक नहीं होगी जबकि ऐसा नहीं होता अत: कुम्भ लग्न ही शुभ कारक नहीं है, न कि कुम्भ का द्वादशांश ।[१] इसी प्रकार आचार्य वराहमिहिर ने वृद्ध गर्ग एवं पाराशर जैसे प्राचीन आचार्यों की आलोचना की है क्योंकि उन्होंने ग्रहण का कारण बुध से युत् पांच ग्रहों का संयोग माना है एवं सूर्य के मण्डल एवं मन्द किरणों को निमित्त माना है । आचार्य ने वृद्ध गर्ग एवं पाराशर के अतिरिक्त अपने पूर्ववर्ती आचार्य आर्य भट्ट के भी मतों का यत्र-तत्र खण्डन किया है ।

इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का स्थान-स्थान पर विरोध करते हुए भी आचार्य वराहमिहिर पूर्वाचार्यों के प्रति अत्यधिक सम्मानपूर्वक वचन उद्धृत किये हैं । एक स्थल पर ज्योतिष शास्त्र की प्रशंसा करते हुए वे वृद्ध गर्ग के आधार पर कहते हैं कि जो वन में रहते हैं सांसारिक विषय भोगों से रहित हैं बिना सम्पत्ति के हैं वे भी नक्षत्रों की गति के जानकार ज्योतिषी से प्रश्न पूछते हैं । बिना ज्योतिषी के राजा उसी प्रकार अन्धे मार्ग में अवस्थित है जैसे -दीपक के बिना रात्रि,सूर्य के बिना आकाश । यदि ज्योतिषी न हो तो शुभ मुहूर्त ,तिथि नक्षत्र, ऋतुएं एवं अयन आकुल हो उठे अर्थात् सनसम्भ्रमित हो जाय ।[२] आचार्य माण्डव्य की प्रशंसा करते हुए आचार्य लिखते हैं कि माण्डव्य की बात सुन लेने के बाद मेरी बात कौन सुनेगा ।[३] एक अन्य स्थल पर ज्योतिष को आगम शास्त्र बताते हुए कहते

१- बृहज्जातक २१ ।३

२- बृहत्संहिता २।७-८-६

३- वही १०४ । ३

है कि पूर्वाचार्यों के विषय में विप्रतिपत्ति करना हमारे योग्य नहीं है । प्रस्तुत प्रसंग को मैं स्वयं विकल्प पूर्वक स्पष्ट कर सकता हूं लेकिन पूर्वाचार्यों के प्रति असम्मान होने के कारण स्वयं न कह करके पूर्वाचार्यों के मतों को कह रहा हूं ।[१]

ज्योतिष शास्त्र में वर्णित ग्रहों के गोचर का शुभाशुभ फल विविध छन्दों के माध्यम से आचार्य ने वर्णन किया है । गोचर के वर्णन में आचार्य ने छन्दों की रचना में जिस पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है वह दूसरे आचार्य के लिए अत्यधिक कठिन है ।[२]

आचार्य वाराहमिहिर भारतीय ज्योतिष शास्त्र के मार्तण्ड कहे जाते हैं । आचार्य वराहमिहिर ही एक ऐसे ज्योतिषी हुए हैं जिन्होंने ज्योतिष-शास्त्र के प्राय: सभी अंगों पर विचार किया है । यद्यपि आचार्य के समय तक भारतीय ज्योतिष-शास्त्र तीन भागों में एकत्रित हो चुका था, किन्तु आचार्य से पूर्व प्रचलित ज्योतिष-शास्त्र के अनेक भेदों में जैसे - यात्रा मुहूर्त प्रश्न,शकुन आदि विषयों पर भी आचार्य ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया । ज्योतिष-शास्त्र के तीनों स्कन्धों में प्रथम स्कन्ध सिद्धान्त (तन्त्र) का है । इस स्कन्ध में सौर, सावन नक्षत्र, चान्द्र इन चारों मानों का वर्णन अधिक मास, क्षय मास की उत्पत्ति के कारण प्रभवादि साठ सम्वत्सर युग, वर्ष, मास, दिन, होरा इनके अधिपतियों की प्रतिपत्ति और निवृत्ति सौर आदि मानों के भेद, अयन निवृत्ति के भेद छाया, जल, यन्त्र से दृग्गणित साम्य, सूर्यादि ग्रहों के शीघ्र, मन्द,दक्षिण,

----

१- बृहत्संहिता ६। ७

ज्योतिषमागमशास्त्रं विप्रतिपत्तौ न योग्यमस्माकम् ।
स्वयमेव विकल्पयितुं किन्तु बहूनां मतं वक्ष्ये ।।

२- वही, गोचरीय फल ।

उत्तर, नीच और उच्च गतियां; सूर्य ग्रहण, चन्द्र ग्रहण में स्पर्श मोक्ष इनके दिग्ज्ञान स्थिति विमर्द वर्ण, देश, ग्रह समागम, ग्रह युद्ध, ग्रहों की कक्षाएं, पृथ्वी, नक्षत्र के भ्रमण, संस्थान, अक्षांश, लम्बांश, दिकज्याचापांश, चरखण्ड, राश्युदय, छाया, नाड़ी, करण आदि के क्षेत्र का वर्णन मिलता है ।

संहिता ज्योतिष में सूर्यादि ग्रहों के संचार, उस संचार में होने वाले ग्रहों का स्वभाव, विकार, प्रमाण, बिम्ब का परिमाण, वर्ण, किरण, द्युति संस्थान, अस्त, उदय, मार्ग मार्गान्तर, वक्र, अनुवक्र, नक्षत्रों के साथ ग्रहों का समागम चार, चार के फलनक्षत्र - विभाग द्वारा बने हुए कूर्म चक्र से देशों का शुभाशुभ फल अगस्त मुनि का संचार सप्तर्षि चार ग्रह भक्ति, नक्षत्र-व्यूह, ग्रह शृंगाटक, ग्रह-युद्ध, ग्रह समागम, वर्ष-पति ग्रह का फल, गर्भ लक्षण, रोहिणी, योग, स्वाती योग, आषाढ़ी योग, सद्योवर्षण, कुसुमलता का लक्षण वृक्षों के फल-फूल के उत्पत्ति के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान, परिधि, परिवेश, वायु, उल्कापात, दिग्दाह का लक्षण, भूकम्प, संध्या की लालिमा, गन्धर्व नगर का लक्षण, धूलि का लक्षण, निर्घात लक्षण, अर्घ काण्ड, अन्न की उत्पत्ति, इन्द्र ध्वज, इन्द्र-धनुष का लक्षण, वास्तु विद्या, अंग विद्या, वायस-विद्या, अन्तरचक्र, मृगचक्र, श्वचक्र, वात चक्र, प्रासाद लक्षण, प्रतिमा लक्षण, वृक्षायुर्वेद, उदकार्गल, नीराजन, खञ्जन लक्षण, उत्पातों की शान्ति-मयूर चित्रक, घृत, कम्बल, खड्ग, पट्ट, मुर्गा, कूर्म, गौ, अजा, कुत्ता, अश्व, हस्ति, पुरुष, स्त्री, अन्तःपुर की चिन्ता, पिटक, मोती, वस्त्रच्छेद, चामर, दण्ड, शय्या, आसनादि का लक्षण, रत्न-परीक्षा, दीप-लक्षण, दन्त - काष्ठादि के द्वारा शुभाशुभ फल संसार के प्रत्येक पुरुष और राजाओं में प्रत्येक प्रकार के लक्षण का विचार किया जाता है ।

इसी प्रकार फलित-ज्योतिष में भी मेषादि द्वादश राशियों का स्वरूप, होरा, द्रेष्काण, नवांश, द्वादशांश, त्रिंशांश, राशियों के बलाबल, परिग्रह, सूर्यादि ग्रहों के दिग्बल स्थान - बल काल-बल, चेष्टा-बल, नैसर्गिक -बल आदि का वर्णन गर्भाधान, जन्म-काल, नालवेष्टित, कोषवेष्टित, यमलादि,

सन्तान की उत्पत्ति का वर्णन, बालारिष्ट, आयुर्दाय, दशा, अन्तर्दशा, अष्टकवर्ग, राजयोग, चन्द्रयोग, द्विग्रह-योग, नाभस योगादि का फल, आश्रय, भाव, दृष्टि, गति, अनूकर्फ (पूर्व जन्म) आदि का विचार, तात्कालिक प्रश्नों के शुभाशुभ कारण, विवाहादि, उपनयन, चूडाकरण, गृह-प्रवेश आदि कर्मों के ज्ञान के कारण, निर्माण तथा नष्ट जातक आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

आचार्य वराहमिहिर ने इन तीनों स्कन्धों पर अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। सिद्धान्त ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर द्वारा रचित पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में आचार्य से पूर्ववर्ती पांच आचार्य = पैतामह, वशिष्ठ, रोमक, पौलिश तथा सूर्य आदि के सिद्धान्तों का संकलन है। यह गणित-ज्योतिष पर आधारित है। यह पुस्तक तत्कालीन ज्योतिष के ज्ञान के लिए अपूर्व सिद्ध हुई है। यदि पञ्चसिद्धान्तिका न होती तो ज्योतिष इतिहास का हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता। लगता है कि आचार्य वराहमिहिर की गणित ज्योतिष की अपेक्षा फलित-ज्योतिष में अधिक रुचि थी, क्योंकि गणित की अपेक्षा फलित ज्योतिष में आचार्य के अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। संहिता ज्योतिष में आचार्य ने समास संहिता एवं बृहत् संहिता नामक दो ग्रन्थ लिखा है। समास-संहिता तो अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु बृहत्संहिता उपलब्ध है। भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता की टीका में स्थान-स्थान पर समास-संहिता का उद्धरण दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य ने समास-संहिता का भी निर्माण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह समास-संहिता, बृहत्संहिता का ही संक्षिप्त रूप है। बृहत्-संहिता में कुल १०७ अध्याय प्राप्त होते हैं।

फलित ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर के दो ग्रन्थ -- लघु जातक एवं बृहज्जातक प्राप्त होते हैं। लघु-जातक भी समास संहिता की भांति बृहत् जातक का संक्षिप्त रूप है। बृहत्-जातक में कुल २८ अध्याय हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य ने विवाह पटल, योगयात्रा, बृहद् योग-यात्रा, जातकार्णव, दैवज्ञ वल्लभा, विवाह खण्ड, टिकनिकयात्रा, ग्रहणमण्डल फलम्, पंचपक्षी, विजयिनी यात्रा, मयूर चित्रक इत्यादि ग्रन्थों की रचना की है। जातकार्णव

ग्रन्थ की चर्चा करते हुए पं० अवध विहारी त्रिपाठी लिखते हैं कि वराहमिहिर का यह ग्रन्थ करण ग्रन्थ है । इस समय यह ग्रन्थ नेपाल देश के काठमाण्डू में स्थित वीर पुस्तकालय में है । सर गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठम् इलाहाबाद के पुस्तकालय में एक हस्त लिखित जातकार्णव पुस्तक उपलब्ध है । यह ग्रन्थ आचार्य वराहमिहिर के नाम से लिखा गया है । ग्रन्थारम्भ में भगवान् सूर्य की वन्दना की गई है । यद्यपि इस ग्रन्थ में ३७ अध्याय वर्णित हैं तथापि ग्रन्थ के आद्योपान्त पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ आचार्य वराहमिहिर द्वारा नहीं लिखा गया है बल्कि बाद के किसी आचार्य ने वराहमिहिर के ग्रन्थों का संक्षिप्त संग्रह इसमें किया है । एक स्थल पर योगों की चर्चा करते हुए लिखा गया है -- "सिंहे कमलिनी मतकुलीरस्थोनिशाकर: दृष्टौ द्वावपि जीवेन पार्थिवं कुरुते सदा ।" इस श्लोक में सिंह के सूर्य एवं कर्कस्थ चन्द्रमा पर यदि एक राशिस्थ बृहस्पति देख रहा हो तो जातक राजा होता है । यह बात तर्क संगत नहीं प्रतीत होती है । क्योंकि एक साथ बृहस्पति कर्क एवं सिंह पर अपनी पूर्ण दृष्टि नहीं डाल सकता । पं० अवध विहारी त्रिपाठी जी लिखते हैं कि दिकनिक यात्रा पुस्तक मुहूर्त विषयक पुस्तक है । यह काठमाण्डू में राष्ट्रीय पुस्तकालय में है । पंच पक्षी पुस्तक की चर्चा करते हुए त्रिपाठी जी लिखते हैं कि यह पुस्तक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती पुस्तकालय में है किन्तु आद्यन्त श्लोकों को देखने से यह पुस्तक वराह-मिहिर की नहीं प्रतीत होती है । ग्रहमण्डलफलम् पुस्तक छोटी पुस्तक है, यह भी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती पुस्तकालय में है । भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक भी आचार्य द्वारा रचित है अथवा नहीं इसमें सन्देह है । दिक्कियनिके-यात्रा-पुस्तक नेपाल देश के वीर पुस्तकालय में है । इसके कई स्थल अशुद्ध हैं । यह यात्रा-विषयक पुस्तक है । बृहद् योग-यात्रा पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है किन्तु यह पहले उपलब्ध अवश्य थी, क्योंकि पी० वी० काणे ने बृहद् योग-यात्रा के अनेक उद्धरणों को धर्मशास्त्र के इतिहास में उद्धृत किया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि बृहद् योग यात्रा ग्रन्थ पहले अवश्य ही उपलब्ध था । विवाह पटल ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं मिलता । सम्भव है यह ग्रन्थ भी भट्टोत्पल के पश्चात् लुप्तप्राय हो गया । ग्रन्थ के नाम से ही ऐसा लगता है कि इसमें विवाह सम्बन्धी विषयों का

वर्णन रहा होगा ।

पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में आचार्य ने करणावतार[२] में २५ श्लोक, नक्षत्रादिच्छेद में १३ श्लोक, इस प्रकार पौलिश सिद्धान्त के समाप्त तक ३७ श्लोकों का पुनः करणाध्याय चतुर्थ तक ५६ श्लोकों का वर्णन किया है । शशिदर्शनम् में १० श्लोक, चन्द्रग्रहण नामक छठें अध्याय में १४ श्लोक, पौलिश सिद्धान्त के सूर्य ग्रहण नाम के सातवें अध्याय में ६ श्लोक, रोमक सिद्धान्त के सूर्य ग्रहण नामक आठवें अध्याय में १८ श्लोक, सूर्य सिद्धान्त के सूर्य ग्रहण नामक नवम् अध्याय में २० श्लोक चन्द्रग्रहण नामक दशम् अध्याय में ७ श्लोक अनुवर्णन नामक एकादश अध्याय में ६ श्लोक पितामह सिद्धान्त नामक १२ वें अध्याय में ५ श्लोक, त्रैलोक्य संस्थान नामक १३वें अध्याय में ४२ श्लोक छेद्यकयन्त्राणि नामक १४ वें अध्याय में ४१ श्लोक, ज्योतिषोपनिषद नामक १५ वें अध्याय में २६ श्लोक, सूर्य सिद्धान्त के मध्यगति नाम के १६ वें अध्याय में ११ श्लोक, ताराग्रहस्फुटीकरण नाम १७ वें अध्याय में १४ श्लोक पौलिश सिद्धान्त के ताराग्रह नामक १८ वें अध्याय में ८१ श्लोकों का वर्णन किया है । इस प्रकार पंचसिद्धान्तिका ग्रन्थ में कुल अध्यायों की संख्या १८ तथा श्लोकों की संख्या ४४२ है ।

योग यात्रा[१] नामक पुस्तक में आचार्य ने कुल १६ अध्यायों का विवेचन किया है । प्रथम अध्याय `दैवपुरुषाकार' में २१ श्लोक वर्णित हैं । इसमें भी सर्वप्रथम सूर्य की स्तुति से मङ्गलाचरण किया गया है । इसके पश्चात् प्रधान स्वीकृत्य यात्रोक्ति, किन्दैवं पुरुष दैवस्यप्राधान्यता, पौरुष दैव प्राधान्यम्, पौरुषमेव कार्यफलशाकी निदानं न पुनस्तदेव, धनाधपेक्षाहीन

१- इस ग्रन्थ की टीका पं० श्री हरिनन्दन मिश्र ने किया है तथा उसका संशोधन सुधाकर द्विवेदी ने किया है ।

राजानमेतैस्वादर न कुर्युः सत्यपि यः सुयं न करोति स क्लिश्यति, कालस्थलयोर्बलाबलम्, पौरुषत्यागे हानिः, दुर्गरचनादि विधिः, अथ पराराष्ट्रं गत्वा किं कर्तव्यम्, सामदण्डादि नायगृहकथन पूर्वक तत्सिद्धिः, सन्धि विग्रहादिषड्गुणघटित कृत्यम् समयमेदवशेनाकन्द्र पौरादिगृहा, तद्गृहबलाबलवशेन कर्तव्यानि, धनप्रशंसा, धनस्थितेरुपायः, यात्रासमय, दैवहीनयुक्तकर्तव्यता सुसमयेनैव सिद्धिः, समयप्रशंसा का विवेचन किया गया है ।

३६ श्लोक सहित

द्वितीय आचाराध्याय में, आचार प्रशंसा, पुम्व्यसनम्, अष्टविधदूषणम्, मद्यदूषणम्, आचाररहितस्य कुगतिः, कुचेष्टित राजस्य परिणामः सुराजलक्षणानि, स्वः कर्तव्याकर्तव्यविवेकसमयः, स्वः पृथ्याः शयनादुत्थानविधिः, त्याज्य दन्तकाष्ठानि, दन्तधावनविधादि, दन्तधावनेन शकुनम्, गुरुदेवतानमस्कारपूर्वक प्रातः कृत्यम्, प्रातर्माङ्गलिक सेवनादि धर्मसभां कथं समाश्रयेत्, सभायां कर्तव्यम् सभासामयोदोषगुणौ दण्डेफलान्तरम्, दण्डाकरणेनिष्टम्, दण्डेविशेषः, राज्ञः प व्ययाः । कार्यागारपरिज्ञाते दण्डकरणम्, राज्ञः दारैनियमः आचारै फलितम् का वर्णन मिलता है ।

तृतीय अभियोगाध्याय में २३ श्लोक हैं इसमें स्वाचारयुक्तानाचारि रभि योज्यः, अभियोग देशाः ग्रहदेशाः, पुनरभियोगदेशः, नम्यदेशः, शान्तिकर्म विषयों का वर्णन है ।

योगाध्याय नामक चौथे अध्याय में कुल ५७ श्लोक हैं, इसमें द्वादशभाव संज्ञा, पापसौम्याः केषु केशुभाशुभाः, पंचांगशुद्धौ विशेषः, कैः केषाम्सिद्धिः, यात्रिक शुभाशुभविशेषः, योगाविविधा का वर्णन है ।

मिश्रकाध्याय नामक पांचवें अध्याय में कुल ४० श्लोकों का वर्णन है । इसमें पूर्वादिराशि नक्षत्र कथन पूर्वक परिघ दण्ड सर्व दिग्गमन नक्षत्राणि, दिशुःशूलम्, मध्यमु नक्षत्र परिहारः, सुयोगेकूरादि पीडिते गमन निषेधः, दिगीश कथन पूर्वक ललाटि निषेधः , अयनप्रतिलोम निषेधः, अयनवत्येन् गमन प्रशंसा, रिक्ता मद्रासु गमन निषेधः, दुष्ट तिथि गमन

निषेध:, विहितनक्षत्रादि फलम्, कण्ठिताचार विराजमानस्य यात्रा फलदा-भवति, सम्मुखशुक्र बुध वज्रपात हत्दिग्फलम्, कदायात्रा सफला भवति, पूर्वा-स्यादि प्रास्थानिक विधि प्रशंसा, शकुन मनोवायु प्रशंसा, दिष्टराहित्ये परि-णाम:, परिणाम सुलम्, अष्टकर्म शुद्धे गोचर दुष्टे चन्द्रेपरिणाम:, चन्द्रस्य बलाबलमाश्रित्य ग्रहा: शुभाशुभानि प्रयच्छन्ति, शकुने विशेष:, शुभाशुभ शकुने फलम्, सूर्यादिनवांशनोदय फलम्, चन्द्रनवांशोदय फलम्, कुजनवांशोदय फलम्, बुधनवांशोदय फलम्, गुरुनवांशोदय फलम्, शुक्रनवांशोदय फलम्, शनिनवांशोदय फलम्, सुलग्न प्रशंसा, लग्नगुणसूचक शकुनम्, मनुष्य पश्वादि जीवेषु लक्षणविदा-प्रभावेधा:, पंचमहाभूत भव प्रभा कथनपूर्वक तत्फलानि विषयों का वर्णन है।

छठे बल्युपहाराध्याय में कुल २६ श्लोक हैं, इसमें क्रमश: दिक्पतय: पूर्वदिगन्तुरिन्द्रप्रतिमा पूजादिविधि:, तादृर्दं गन्तु: सूर्य प्रतिमा पूजादि विधि:, आग्नेयदिगन्तु रग्निशुक्र: प्रतिमा पूजादिविधि:, दक्षिणदिगन्तुर्यमांगार: प्रति-मा पूजाविधि:, पश्चिमदिगन्तु वरुणशनि प्रतिमा पूजन विधि:, वायव्यदिगन्तु वायु चन्द्र प्रतिमा पूजन विधि:, उत्तरदिगन्तु कुबेर बुध प्रतिमा पूजन विधि:, ईशानदिगन्तु शिवबृहस्पति पूजा विधि:, देव नमस्कार पूर्वक बलिसमर्पणमभिमत प्रार्थना विषयों का विवेचन है।

सातवें नक्षत्रविजयस्नानप्राशनाध्याय में कुल २२ श्लोकों का वर्णन है। इसमें क्रमश: - अश्विन्यादि नक्षत्रों का वर्णन, अंग शोधन मृद्विशेषा:, मृद्भेदनांग भेद:, गमन श्वन्यादि पंचानामशनम्, आर्द्रादि सप्तानां, हस्तादि-नवानां, श्रवणाद्यवशिष्टानां, पूर्वादि गमने वाहनम्, गमने दिग्वशेनाशनम्,नक्षत्र-न्नवशेन शुभाशुभम् इत्यादि विषयों का वर्णन है।

आठवें अग्निनिमित्ताध्याय में कुल १६ श्लोक हैं। इस अध्याय में क्रमश: अधिकहीनवेदीफलम्, प्रादादिमानहीन फलम्, विजयदमूहवि:,हवनोप-करणेनाशु:सचकशकुनम्, आहुति समये सुशकुन विजय:, यात्रा सामयिक चतुर्वेद मन्त्राहुति स्तुतीनाम् प्रतीका:, हवनाग्नि ना शुभ सूचक शकुनानि, हवनाग्नि-

ना शुमसवक शकुनानि विषयों का वर्णन है ।

नवें नक्षत्र केन्दुमाध्याय में कुल १८ श्लोक हैं । इसमें जन्मदी-मारम्य संज्ञा विशेष:, जातिकर्मनक्षत्राणि फलानि, निरुपद्रुतफलानि, नक्षत्रपीडयायामुशान्त्युपाय:, संज्ञामेदेनशान्ति मेद: इत्यादि का वर्णन है ।

दसवें हस्तिलक्षणाध्याय में कुल ८१ श्लोकों का वर्णन किया है । इसमें गजशालादेघ्यादि, वर्तुलवायाविशेष:, गजशालाद्वारम्, गजगृहद्वारे-विशेषा:, भद्रगजलक्षणम्, मन्दगजलक्षणम्, मृगसंकीर्णगज लक्षणम्, मृगादि-गजानामुमुन्चादिकम्, भद्रादि गजानाममदवर्ण:, निषिद्धम:, प्रशस्त भूमि:, गजमेदेनभूमि:, उत्मादिगजशाला, गजसानां निर्गममानम्, गजगृहेकष्ट कादि:, गजगृहेचित्रपदेश:, चित्रपदम्, गजगृहेद्वारोच्छ्रायविस्तरादि:, प्रवेश निर्गमनद्वारा-लक्षणम्, गजबन्धनकाष्ठामि:, पूर्वमुखगजबन्धनफलम्, दक्षिणमुखगजबन्धन फलम्, परिश्चममुखगजबन्धनफलम्, उत्तरमुखगज बन्धन फलम्, बन्धस्तम्भे निषिद्ध काष्ठा-नि:, कथितकाष्ठानांपृथकफलानि, गजबन्धनस्तम्भ रूपणम् च तत्फलम् च, आग्ने-यादिविदिग्बन्धन फलम्, स्तम्भोतमादि, श्रेष्ठगजलक्षणम्, धन्यगजा:, त्याज्य-गजा:, दन्तच्छेदविधि-तत्फलम्, छेदनेछत्रचामरादिफलम्, छेदेसव्यापसव्यफलम्, दन्ती मलादिदेशे देवादि स्थिति स्तफलम्, दन्त भंग फलम्, उभय दन्तभंगफम्, दुग्धमिष्ठ फलादिनां फलम्, भयकृत गज चेष्टितम्, जयकृतगजचेष्टितम्, जलेगज-ग्राहग्रहणेनफम्, मदकरणौषध कथनायवीज्यम्, मदकारक द्रव्य समूहा:, अहारण-विशेष:, मदस्थितेरुपाय: विषयों का वर्णन है ।

ग्यारहवें अश्वेङ्गिताध्याय में कुल १५ श्लोक हैं, इसमे धन्याश्व:, दयांगज्वलनेन् फलम्, अश्ववर्णवशेन् ज्वलनफलम्, अश्वकुचेष्टितम् अश्वसुचेष्टितम्, आरोहनसशकुनम्, अभिमतार्थदवाजिचेष्टितम्, चेष्टयागमनशुभम्, सद्योक्तदचेष्टितम्, अशिवचेष्टितम् विषयों का वर्णन है ।

बारहवें चङ्गलक्षणाध्याय में कुल २६ श्लोक हैं, इसमें --

ज्येष्ठादिष व्रणफले, षङ्गेशुभचिह्नानि, बह्वोऽशुभचिन्हानि, प्रशस्तचिह्नानि, निर्माणात्रिके विशेष:, षङ्गमुष्टिचिह्नेविशेष:, मस्तकादिस्पर्शेष ङ्गचिह्नम्, एषां फलानि, गन्धफलम्, कामनाभेदेशस्त्रपानम्, विषयों का वर्णन है ।

तेरहवें प्रास्थानिकाध्याय में कुल १६ श्लोक हैं । इसमें - प्रस्थान-स्थान विधि:, प्रयाणे मन्त्र कथनम्, मंगलानि, आशीराशय:, मांगलिके विशेष:, अमंगलानि, विशेष मार्ग: विषयों का वर्णन है ।

चौदहवें शकुनाध्याय में कुल ३२ श्लोकों के साथ वामेशुशकुनानि, दक्षिणेशुशकुनानि, उभयेसुशकुनानि, समय भेदेनशकुनानि, कुशकुनेविशेष:, सुशकुने-विशेष:, अंगारादिदिश:, एतेसद्दुक्षिवन्तकानशून्योपि घट शुभ:, दिवा चारिण:, रात्रिचराभि:, उभयचारी युनिशोभय चारिवशेनफलम्, गमननिषेध-पदानि, सप्तस्वरग्रामादिफलम्, कुतादौविशेष:, शकुनेदिग्वशेन विशेष:, दिग्वशेनसुशकुनानि, करायिका चेष्टितम्, दिव्यकचेष्टितम्, श्वचेष्टितम्, शुन:-कुचेष्टितम्, शुन:शकुने विशेष:, वाष चेष्टितम्, शकुन निश्चय:, अनिष्ट शकुन-विरतेकर्तव्यम्, शकुन प्रशंसा विषयों का वर्णन है ।

पन्द्रहवें प्रोत्साहनाध्याय में कुल ३२ श्लोकों के साथ सार्थक लक्षणानि, अंगसरा:, गृहव्यूह, व्यूहप्रयोजनम्, रणासमीपेकर्तव्यता, भटविभी-षणनोक्ति:, स्वाम्युदयदर्शनम्, युद्धसुलभमुक्तिकीर्ति:, जयसुखम्, जयिपराजयिनो-विशेष:, युद्धवीरोव्यीर्यदर्शनम्, स्वामिकार्येदेहत्यागिनामुभय सुखम्, शूराशूरयोर्वि-शेष:, पारमार्थिकसुखम्, पदेपदेअश्वमेध फलम्, अनेक स्वर्ग मार्गे सरल मार्ग:,स्वर्ग-स्थायिजन्येच्छा, रणाविचेष्टित पारमार्थिक सुखम्, रणमरणमेववरम्, म ध्य-मावि वशेन विशेष:, परमोत्कृष्ट सुखम्, रणहता:कीदृसम विमानम् वि न्ति विषयों का वर्णन है ।

सोलहवें उपसंहाराध्याय में कुल १८ श्लोकों के साथ-शत्रु विचार:, विजयेप्यमदम्, विजयेशत्रुरहित सुखम्, परपुरातो कर्तव्यता, गणयोक्त चारिण: सकलाधिपत्यम्, राज्ञ: प्रथमादि कर्तव्यता, गृह प्रवेश:, सुनीत चारिणो पराम-

ऐश्वर्यम् ; स्वपुरमागत्य कर्तव्यता, ग्रन्थाध्याय नामानि विषयों का वर्णन किया है। इस प्रकार आचार्य वराहमिहिर ने योग यात्रा नामक ग्रन्थ में कुल ४८५ श्लोकों का वर्णन किया है।

आचार्य वराहमिहिर रचित लघुजातक बृहज्जातक का संक्षिप्त रूप है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने कुल सोलह अध्यायों के अन्तर्गत कुल १८२ श्लोकों का वर्णन किया है। प्रथम राशिप्रभेदाध्याय में सर्वप्रथम आचार्य भगवान् सूर्य की वन्दना से मङ्गलाचरण करते हैं।[1] तदनन्तर ग्रन्थप्रयोजन, कालपुरुष के अङ्गविभाग, राशियों के वर्ण, राशियों की पुरुष-स्त्रीसंज्ञा दिशाज्ञान, मेषादि-राशियों एवं नवांशों के स्वामी, होरा द्रेष्काण द्वादशांश के स्वामी, त्रिंशांश के स्वामी, राशियों की द्विपदादि संज्ञा, राशिबल, लग्नादिभावसंज्ञा, केन्द्रादिसंज्ञा, उपचय तथा वर्गोत्तम नवांश, राशियों के दिन रात्रिबल, शीर्षोदय पृष्ठोदयत्व, ग्रहों के उच्चनीच और त्रिकोण स्थान तथा ग्रहों की षड्वर्ग संज्ञा विषयों का विवेचन किया है।

द्वितीय ग्रहभेदाध्याय में कुल तेरह श्लोकों के साथ ग्रहों के आत्मादिविभाग, दिशास्वामी तथा पाप और शुभग्रह, ग्रहों की पुरुष स्त्री संज्ञा तथा वेदों के अधिप, ब्राह्मणादि वर्णों के अधिप, ग्रहों के स्थानबल, ग्रहों के दिग्बल, चेष्टाबल, कालबल, नैसर्गिकबल, स्थानबल, तथा ग्रहों के दृष्टिस्थान विषयों का वर्णन किया है।

तृतीय ग्रहमैत्रीविवेकाध्याय में मित्रामित्र में अन्य आचार्यों के मत, सत्योक्त, नैसर्गिक मित्रामित्र, मित्रामित्र से पञ्चधा मैत्री कथन आदि पांच श्लोकों

१- यस्योदयास्तसमयेसुरमुकुटनिघृष्टचरणकमलोऽपि ।
कुरुते बलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः ।।

(लघुजातक १। १)

में तथा चतुर्थ ग्रहस्वरूपाध्याय में आठ श्लोकों के सहित सूर्यादि ग्रहों के स्वरूप तथा प्रयोजनादि का वर्णन है ।

पंचम गर्भाधानाध्याय में कुल बारह श्लोकों के साथ आधानलग्न से सम्भोग ज्ञान, आधानलग्न से दोष का ज्ञान, गर्भाधान से जन्मकाल का विचार, प्रसव सम्भव में विशेष, गर्भाधानकालिक अशुभयोग, आधान से दसमासों में गर्भ के रूप और फल, आधान लग्न से गर्भ का ज्ञान, गर्भ में पुत्र, कन्या का ज्ञान, पुत्र कन्या, यमलयोग विशेष विषयों का निरूपण किया गया है ।

छठें सूतिकाध्याय में बारह श्लोकों के साथ ग्रहों के सत्वादिगुण, जातक के गुणवर्णादि, पिता के परोक्ष में जन्म, परजात जन्मयोग, सूतिका के गृह का द्वार, सूतिकागृह का स्वरूप, सूतिकागृह के मंजिल और बरामदा का ज्ञान, सूतिका की शैय्या का ज्ञान, नालवेष्टिताङ्ग ज्ञान, सूतिका के आभूषण-धातु आदि का ज्ञान तथा उपसूतिका ज्ञान विषयों का वर्णन है ।

सातवें अरिष्टाध्याय में कुल ग्यारह श्लोकों में अनेक प्रकार के अरिष्टयोग तथा आठवें अरिष्टभङ्गाध्याय में सोलह श्लोकों में अनेक प्रकार से अरिष्टभङ्गाविचार एवं नवें आयुर्दायाध्याय में पांच श्लोकों के सहित ग्रहायुर्दाय, लग्नायुर्दाय, वर्गोत्तमादि में विशेष, ग्रहों की आयु में हानि तथा चक्रोत्तरार्ध स्थित ग्रहों की आयु में हानि विषयों का वर्णन है ।

दसवें दशान्तर्दशाध्याय में ६ श्लोक एवं ग्यारहवें अष्टक वर्गाध्याय में १५ श्लोकों के साथ दशाप्रमाण, दशाक्रम, ग्रहों की दशा में शुभाशुभता, लग्न की दशा में शुभाशुभता, अन्तर्दशाधिकारी, अन्तर्दशासाधनप्रकार तथा ग्यारहवें में सूर्यादि सप्तग्रहों के अष्टकवर्ग तथा अष्टकवर्ग फलनिरूपण विषयों का वर्णन है ।

बारहवें प्रकीर्णाध्याय में कुल २७ श्लोकों के साथ अनफासुनफा, दुरुधरा, केमद्रुम योग, अनफादि योग के फल, अनफादि योगकारक ग्रहों के फल, सूर्य से विशेष योग, द्विग्रहयोग, प्रव्रज्या योग, सूर्यादि ग्रहों की प्रव्रज्या

प्रव्रज्यायोग में विशेषता, चरादि राशिफल, दृष्टिफल, भावफल, लग्नगत चन्द्रफल, सूर्यफल, भावफल में न्यूनाधिकता, मेषादि नवांशजातफल,स्वगृह मित्रगृहगत ग्रहों के फल, स्वोच्चगत ग्रहों के फल, नीचगत ग्रहों के फल, तथा राजयोगादि विषयों का वर्णन है ।

तेरहवें नाभस योगाध्याय में कुल १२ श्लोकों के साथ रज्जुमुसल-नल नामक आश्रययोग, सर्प और माला नामक दलयोग, गदा आदि हलपर्यन्त ५ योग और फल, वज्र आदि दण्डपर्यन्त ८ योग तथा उनके फल, नौकादि समुद्र पर्यन्त ७ योग तथा उनके फल तथा गोलादि ७ संख्यायोगों का वर्णन है ।

चौदहवें स्त्री जातकाध्याय में स्त्री के आकार तथा लक्षण,पति-सम्बन्धी विचार, अशुभ योग तथा ब्रह्मवादिनी योगों का वर्णन ६ श्लोकों में तथा पन्द्रहवां निर्याणाध्याय में ५ श्लोकों के साथ मृत्युकारणज्ञान,मरणान्तर-गतिस्थानज्ञान, मोक्षयोग तथा पूर्वजन्म वृत्तान्तादि विषयों का वर्णन है ।

सोलहवें नष्टजातकाध्याय में कुल ६ श्लोकों के सहित लग्न और ग्रहों के गुणाकाङ्क, नक्षत्रज्ञान, वर्ष-ऋतु-मासादि का ज्ञान, वर्ष, ऋतु-मास-पक्ष-तिथि आनयन, दिनरात्रि तथा नक्षत्रानयन, इष्टकाल-लग्न-होरा-नवमांशा-नयन, प्रयोजन विषयों का विधिवत् विवेचन है ।

बृहज्जातक के २८ अध्यायों में कुल ४०६ श्लोकों का वर्णन है । इसमें सर्वप्रथम राशिप्रभेदाध्याय के अन्तर्गत २० श्लोकों में मङ्गलाचरण, ग्रन्थ का प्रयोजन, होरा शब्द का अर्थ, कालरूप पुरुष के अङ्ग, अश्विन्यादि नक्षत्रों में राशि के विभाग, स्पष्ट के लिए राशिचक्र, राशियों के स्वरूप, मेषादि राशियों तथा नवांशों के स्वामी, स्पष्ट के लिए राशिचक्र, राशियों के नवांश-चक्र, द्वादशांशचक्र, त्रिंशांश के पति, प्रसङ्गवश तिथिगण्ड, नक्षत्रगण्ड, लग्न-गण्ड, गण्ड के फल, मेषादि राशियों के नाम, ग्रहों के षड्वर्ग की संज्ञा, राशियों की रात्रि, दिन और पृष्ठोदयादि संज्ञा, मेषादि राशियों की क्रूर, सौम्य आदि संज्ञा, मतान्तर से होरा के स्वामी,ग्रहों के उच्च और नीच,वर्गो-

नवांश और सूर्यादि ग्रहों के त्रिकोण, लग्नादि द्वादश भावों की तथा उपचय अपचय की संज्ञा, द्वादशभावों के संज्ञान्तर, कण्टक, पणफर, आपोक्लिम आदि संज्ञा, लग्नादि राशियों के बल, मेषादि द्वादशराशियों का वर्ण, राशियों के प्लव दिशाओं का वर्णन है ।

द्वितीय ग्रहभेदाध्याय में २१ श्लोकों के साथ कालपुरुष के आत्मादि विभाग, ग्रहों के पर्याय, ग्रहों के अन्य भाषाओं के नाम, ग्रहों के वर्ण, वर्णस्वामी आदि का ज्ञान, ग्रहों की नपुंसक आदि संज्ञा, ब्राह्मणादि वर्णों के स्वामी, ग्रहों के स्वरूप और धातु, स्थान और वस्त्रादि,दृष्टिस्थान, राहुकेतु की दृष्टि में अन्य आचार्य का मत, ग्रहों के काल और इसका निर्देश,ग्रहों के नैसर्गिक मित्र, शत्रुकथन, सत्याचार्योक्त मित्रादिकथन, आचार्य के मतानुसार मित्रादि कथन, तात्कालिक मित्रादि कथन, ग्रहों के स्थानबल, दिग्बल, चेष्टा-बल, कालबल, तथा नैसर्गिक बल विषयों का वर्णन है ।

तृतीय वियोनि जन्माध्याय में कुल ८ श्लोकों के सहित जन्म अथवा प्रश्नकाल से वियोनिजन्म का ज्ञान, वियोनि जन्मज्ञान के लिए योगान्तर, चतुष्पदों के राशिवश अङ्गविभाग, वियोनि वर्णज्ञान, पक्षीजन्मज्ञान, वृक्षजन्म-ज्ञान, बलनिर्बल वृक्ष विशेषज्ञान, शुभाशुभ वृक्ष और उत्पन्नस्थान का ज्ञान तथा वृक्ष संख्याज्ञान विषयों का वर्णन है ।

चतुर्थ निषेकाध्याय में २२ श्लोकों में गर्भधारण करने के योग्य ऋतु समय का ज्ञान, गर्भाधानकालिक लग्न से मैथुन का ज्ञान, गर्भसम्भवासम्भवज्ञान, गर्भाधानकाल से प्रसूति काल तक शुभाशुभज्ञान, पिता, माता, पितृव्य,मातृष्व-साओं का शुभाशुभ ज्ञान, गर्भिणी मरण के योग, मरण में योगान्तर,गर्भिणी की शस्त्र से मृत्यु और गर्भस्रावयोग, गर्भपुष्टिज्ञान, गर्भाधान काल अथवा प्रश्नकाल से पुरुष स्त्री विभागज्ञान, पुत्रजन्म का दूसरा योग नपुंसक के योग, एक साथ दो और तीन सन्तति का योग, तीन से अधिक सन्तति का ज्ञान, गर्भ के मासा-धिप और उनका फल, सदन्तादियोग, वामन और अङ्गहीन योग, अन्ध और

काणयोग, प्रसङ्गवशगमधान के मुहूर्त, आधानलग्न से प्रसवकालज्ञान, तीन वर्ष तथा बारह वर्षपर्यन्त गर्भधारण योगों का वर्णन है ।

पांचवे सूतिकाध्याय में २६ श्लोकों के साथ पिता के परोक्ष में जन्म का ज्ञान, योगान्तर, सर्पस्वरूप और सर्पवेष्टित बालक का ज्ञान, कोश से वेष्टित यमल योग, नाल से वेष्टित बालक के जन्म का ज्ञान, जार से उत्पन्न का ज्ञान, बालक के पितृबन्धनयोग, नौकास्थ जन्म का योग, जल में जन्म का योग, बन्धनागार और गर्त में जन्म का योग, क्रीडाभवनादि में जन्म का योग,श्मशानादि में जन्म का योग प्रसव देश का ज्ञान, माता से त्यक्त सन्तान का ज्ञान, माता से त्यक्त सन्तान का मृत्युयोग, प्रसव के घर का ज्ञान, दीपसम्भवासम्भव और भू प्रदेश का ज्ञान, दीप और गृहद्वार का ज्ञान, सूतिका गृह का स्वरूप, समस्त भूमि में किस ओर सूतिका गृह है इसका ज्ञान, सूतिका शयनज्ञान,उपसूतिका का संख्याज्ञान, बालक के स्वरूपादि का ज्ञान, द्रेष्काण के वश अङ्गविभाग बालक के अङ्ग में चिह्न का ज्ञान तथा व्रणादि का ज्ञान विषयों का वर्णन है ।

छठें अरिष्टाध्याय के १२ श्लोकों में अरिष्टयोगद्वय संहिता में सन्ध्यालक्षण तथा अनुक्त मृत्युसमय का निरूपण एवं सातवें आयुर्दायाध्याय में कुल १४ श्लोकों के साथ मयासुर यवनाचार्य आदि के मत से ग्रहों की परमायु, परमनीचस्थित ग्रहों का आयुर्दाय अन्य प्रकार से आयु का आनयन आयुर्दाय के विशेष संस्कार, मनुष्य आदि का परमायुर्दाय, परमायुर्दाय योग अन्यमत से आयुर्दाय में दोष, पूर्णायु योग में चक्रवर्तित्व मानने वाले के मत में प्रत्यक्ष दोष, सत्याचार्य के मत से आयु:साधन प्रकार,सत्याचार्य के मत से आनीत आयुर्दाय का संस्कार, लग्नायुर्दाय में विशेषत: तथा अमितायु योगादि विषयों का वर्णन है ।

आठवें दशान्तर्दशाध्याय के कुल २३ श्लोकों में लग्नसहित ग्रहों का दशाक्रम,दशावर्षप्रमाण, अन्तर्दशा प्रकार, अन्तर्दशा वर्ष लाने का प्रकार,स्थानादिबलक्रम से दशा की संज्ञा और फल, दशान्तर्दशा के संज्ञान्तर, दशाओं के

नामान्तर और फल, लग्न की शुभाशुभदशा, स्वाभाविक ग्रहदशासमय, दशारम्भ-कालिक लग्न और ग्रह के वश शुभाशुभ फल, दशा के आरम्भकाल में चन्द्रवश शुभाशुभ, सूर्यादिक ग्रहों के शुभाशुभ दशा फल, शुभाशुभ फल के समय विभाग, सामान्य रूप से दशाओं का फल, अज्ञात जन्मसमय वालों की ग्रहदशा जानने का प्रकार, विशेष प्रकार तथा एक या भिन्न-भिन्न ग्रह के फल विरोध में फल का नियम विषयों का वर्णन है ।

नवें अष्टकवर्गाध्याय के कुल ८ श्लोकों में सूर्यादि ग्रहों के अष्टक वर्गाङ्क, संयोगाष्टक वर्ग का फल तथा सूर्यादि ग्रहों के अष्टकवर्ग के फलों का निरूपण है ।

दसवें कर्मजीवाध्याय के ४ श्लोकों में जातक को किससे धन की प्राप्ति होगी, नवांशपति की वृत्ति एवं धनागम के ज्ञान का वर्णन है । तथा ग्यारहवें राजयोगाध्याय के २० श्लोकों में ३२ प्रकार के राजयोग, यवनोक्त राजयोग पुन: राजयोगों के अन्य प्रकार, राज्य प्राप्ति का समय, भोगी और भिल्ल चोरों के स्वामी का योग विषयों का वर्णन है ।

बारहवें नाभसयोगाध्याय के कुल १६ श्लोकों में योगों की संख्या, आश्रययोग, दलयोग, योगों की समता और कुछ फलविचार, गदा आदि आकृति योग, वज्र आदि योग, यूप आदि योगों का कथन, नौका, कूट, छत्र, चाप और अर्धचन्द्रयोग, समुद्र और चक्रयोग, संख्यायोग, आश्रय और दलयोग का फल, पूर्वोक्त योगों का फल विषयों का वर्णन है ।

तेरहवें चन्द्रयोगाध्याय में ६ श्लोकों के साथ उत्तममध्यमादि विनयादि का ज्ञान, अधियोग, सुनफा, अनफा, दुरुधरा, केमद्रुम योग, योगों का भेद तथा फल, सुनफा आदि योगकारक भौमादि ग्रहों का फल, योगकारक शनि का फल, लग्न और चन्द्रमा से उपचय स्थानों में स्थित शुभग्रहों का फल इत्यादि विषयों का वर्णन है । इसी प्रकार चौदहवें द्विग्रहयोगाध्याय में ५

श्लोकों के साथ सूर्यसहित चन्द्रादि ग्रहों का फल, कुजादि ग्रहों से युत चन्द्र का फल, बुधादि ग्रहों से युत मङ्गल का फल, जीवादि ग्रहों से युत बुध का फल, शुक्र शनि का योग फल एवं त्रिग्रहयोग फल विषयों का वर्णन है ।

पन्द्रहवें प्रव्रज्यायोगाध्याय में कुल चार श्लोकों के सहित प्रव्रज्यायोग, अदीक्षितादि योग, अन्य प्रकार से प्रव्रज्या योग, शास्त्र बनाने का और तीर्थ करने का योग इत्यादि विषयों के विवेचन के साथ सोलहवें ऋक्षशीलाध्याय में १४ श्लोकों में अश्विन्यादि २७ नक्षत्रों में उत्पन्न जातकों का फल विषयों का विवेचन है ।

सत्रहवें राशिशीलाध्याय के १३ श्लोकों में मेषादि द्वादश राशियों में स्थित चन्द्रफल तथा अठारहवें ग्रहराशिशीलाध्याय में २० श्लोकों के सहित विभिन्न मेषादि द्वादशराशियों में स्थित सूर्यादिग्रहों का फल तथा मेषादि लग्न फल का निर्णय एवं उन्नीसवें दृष्टिफलाध्याय के ६ श्लोकों में मेषादि द्वादशराशियों में स्थित भौमादि ग्रहों पर अन्य ग्रहों की दृष्टि का फल, होरा, द्रेष्काण और नवांश में स्थित, चन्द्रमा के ऊपर ग्रहदृष्टिफल तथा दृष्टि फल में विशेष विषयों का वर्णन है ।

बीसवें भावफलाध्याय के ११ श्लोकों में सूर्यादि ग्रहों का भावफल, लग्नादि द्वादशभावों में स्थित सब ग्रहों का विशेष फल, कुण्डली में ग्रहों का विशेष शुभाशुभ फल तथा इक्कीसवें आश्रययोगाध्याय के १० श्लोकों में स्वगृह और मित्रगृह में स्थित ग्रहों का फल, उच्चस्थ मित्रयुत दृष्ट शत्रुनीचस्थ ग्रहों का फल, उच्चगत पापग्रहों का विशेष फल, उच्चाभिलाषी ग्रहों का फल, शत्रुराशि में स्थित ग्रहों का फल, कुम्भ लग्न में जन्म का फल, होरा में स्थित ग्रहों का फल, द्रेष्काण में स्थित चन्द्र का फल, नवांश का फल तथा ग्रहों के त्रिंशांश फल विषयों का वर्णन है ।

बाइसवें प्रकीर्णाध्याय में कुल ६ श्लोकों के साथ ग्रहों की परस्पर कारक संज्ञा, कारकान्तर-कथन, कारक संज्ञा करने का प्रयोजन, युवावस्था में शुभ

का योग, गोचरफल कालज्ञान विषयों का वर्णन है तथा तेइसहवें अनिष्टाध्याय के १७ श्लोकों में पुत्र और स्त्री का भावाभावयोग, स्त्रीमरणयोगत्रय, स्त्रीपुरुष का काणत्व और अङ्गहीनत्वयोग, अपुत्रकलत्रबन्ध्यापतियोग, परस्त्रीगमन आदि योग, वंशच्छेद आदि योग, वातरोग आदि अनिष्ट योग, श्वास क्षय आदि रोग कुष्ठीयोग, नेत्रहीनयोग, बधिर आदि योग, पिशाच और अन्धयोग, वातरोग और उन्माद योग, दास योग, विकृत-दशन, खल्वाट आदि योग, अनेक प्रकार के बन्धन योग तथा परुष बचन आदि योगों का वर्णन है ।

चौबीसहवें स्त्रीजातकाध्याय के कुल १६ श्लोकों में स्त्रीजन्म में फल कथन की व्यवस्था, स्त्रियों के आकार और स्वभाव का ज्ञान, विभिन्न ग्रहों की राशियों में स्थित विभिन्न ग्रहों के त्रिंशांश का फल, स्त्री के साथ स्त्री को मैथुन करने के योग, पति का कापुरुषादि योग, वैधव्य आदि योग, अपनी माता के साथ व्यभिचारिणी आदि योग, वृद्ध आदि स्वामी का योग, लग्न में स्थित ग्रहों का फल, बहुपुरुषगामिनी और ब्रह्मवादिनीयोग, तथा प्रव्रज्यादि योगों का वर्णन है ।

पचीसहवें नैर्याणिकाध्याय के १५ श्लोकों में अष्टम-स्थान के वश मृत्यु का विचार, अन्य मरण योग, पूर्वोक्तयोग के अभाव में मरणयोग, किस तरह की भूमि में मरेगा इसका ज्ञान, मृतक की देह के परिणाम का ज्ञान, पूर्वजन्म परिज्ञान, भविष्य में गम्य लोक का ज्ञान विषयों का वर्णन है ।

छब्बीसहवें नष्टजातकाध्याय के कुल १७ श्लोकों में अयन का ज्ञान, अयन और ऋतु के विपरीत होने पर ऋतु मास और तिथि का ज्ञान, चान्द्रतिथि दिवा, रात्रि और जन्मकाल का ज्ञान, प्रकारान्तर से जन्मराशि का ज्ञान, जन्म-लग्न का ज्ञान, प्रकारान्तर से नष्टजातक का ज्ञान, नक्षत्र का ज्ञान, पूर्वोक्त वर्ष आदि का स्पष्ट ज्ञान दिनरात्रि आदि ज्ञान के प्रकार, इष्टकाल जानने का प्रकार तथा नष्टजातक का उपसंहार विषयों का वर्णन है ।

सत्ताइसवें द्रेष्काणाध्याय के ३६ श्लोकों में मेषादिराशियों में प्रत्येक द्रेष्काण का स्वरूप तथा अठाइसवें उपसंहाराध्याय के १० श्लोकों में ग्रन्थ में वर्णित अध्यायों का संग्रह, सज्जनों से प्रार्थना एवं अन्त में सूर्यादि को प्रणाम करते हुए ग्रन्थकार अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए ग्रन्थ की समाप्ति करते हैं। इस प्रकार बृहज्जातक में कुल २८ अध्याय एवं ४०६ श्लोकों का वर्णन है।

बृहत्संहिता में कुल १०७ अध्याय एवं २८०२ श्लोक हैं। प्रथम उपनयनाध्याय में कुल ११ श्लोकों के सहित मङ्गलाचरण ग्रन्थप्रयोजन आदि विषयों का तथा द्वितीय साम्वत्सरसूत्राध्याय के ३६ श्लोकों में देवज्ञों के गुण, देवज्ञों के लक्षण, मूर्खों का उपहास, तीनों स्कन्धों के भेद, देवज्ञों की प्रशंसा, नक्षत्रसूचकों की निन्दा इत्यादि विषयों का वर्णन है। तृतीय आदित्यचाराध्याय में कुल श्लोक ४० तथा चतुर्थ चन्द्रचाराध्याय में ३२ श्लोक, राहुचाराध्याय में ६८ श्लोक, छठें भौमचाराध्याय में १३ श्लोक, सातवें बुधचाराध्याय में २० श्लोक, आठवें बृहस्पतिचाराध्याय में ५३ श्लोक, नवें शुक्रचाराध्याय में ४५ श्लोक, दसवें शनिचाराध्याय में २१ श्लोक, ग्यारहवें केतुचाराध्याय में ६२ श्लोक, बारहवें अगस्त्यचाराध्याय में २२ श्लोक तथा तेरहवें सप्तर्षिचाराध्याय में ११ श्लोकों के साथ ग्रहों का चार तथा विभिन्न प्राणियों एवं राष्ट्रों पर होने वाले शुभाशुभ फलों का वर्णन है।

चौदहवें कूर्मविभागाध्याय के ३३ श्लोकों में नक्षत्रों का विभाग, मध्यदेश का विभाग, पूर्वादि दिशा में स्थित देशों के नाम तथा नव वर्गों का फल आदि विषयों का वर्णन है। पन्द्रहवें नक्षत्र व्यूहाध्याय के ३२ श्लोकों में विभिन्न नक्षत्रों के आश्रित पदार्थ ब्राह्मण आदि जातियों के नक्षत्र, पापग्रहों का प्रयोजन इत्यादि विषयों का वर्णन है।

सोलहवें ग्रहभक्तियोगाध्याय के कुल ४२ श्लोकों में प्रत्येक ग्रहों के देश और व्यक्ति, इनका प्रयोजन, सत्रहवें ग्रहयुद्धाध्याय के २७ श्लोकों में युद्ध का कारण, युद्धों का फल, पराजित ग्रहों का लक्षण, विजयी ग्रहों का लक्षण,

ग्रहों से पराजित प्रत्येक ग्रहों का पृथक्-पृथक् फल, तथा अठारहवें शशिग्रहसमागमाध्याय के ८ श्लोकों में चन्द्र का गति लक्षण और फल, मङ्गलादि सभी ग्रहों के उत्तरगत चन्द्र के फल आदि उन्नीसहवें ग्रहवर्षफलाध्याय के २२ श्लोकों में सूर्यादि ग्रहों का वर्षफल, तथा वर्ष फल में विशेषता इत्यादि विषयों का एवं बीसहवें ग्रह शृङ्गाटकाध्याय के ९ श्लोकों में ताराग्रहों के उदयास्तवश दिशाफल, ताराग्रहों संस्थान प्रदर्शन, नक्षत्र स्थित ग्रहों का फल, ग्रहों के योग तथा संवर्त और समागमयोग में मध्यम फल इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

इक्कीसहवें गर्भलक्षणाध्याय के ३७ श्लोकों में गर्भलक्षण का प्रयोजन, गर्भ का प्रसवकाल, मेघ और वायु का लक्षण, गर्भसम्भव लक्षण, ऋतु के वश गर्भलक्षण, गर्भकालिक मेघों का लक्षण, गर्भनाश का लक्षण, गर्भकालिक नक्षत्रवश अधिकवृष्टि का योग, तथा गर्भपुष्टि के लक्षण तथा बाइसहवें गर्भधारणाध्याय के ८ श्लोकों में गर्भधारण के लक्षण तथा वशिष्ठादि के मतों का वर्णन है । तेइसहवें प्रवर्षणाध्याय के १० श्लोकों में प्रवर्षण का लक्षण, जल का प्रमाण नक्षत्रों में वृष्टि का प्रमाण तथा चौबीसहवें रोहिणीयोगाध्याय के ३६ श्लोकों में रोहिणीयोग विचार करने का समय, कलश और होम की व्यवस्था, पताका से वायु की परीक्षा, रोहिणीयोग के समय शुभ शकुन तथा अदृश्य चन्द्र का फल इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

पचीसहवें स्वातीयोगाध्याय के ६ श्लोकों में अपांवत्स तारा के निकट स्थित चन्द्र का फल, स्वाती योग का फल इत्यादि विषय छब्बीसहवें आषाढीयोगाध्याय के १५ श्लोकों में आषाढीयोग में धान्यों के परिमाण से धान्यों की स्थिति, सत्ताइसहवें वातचक्राध्याय के नौ श्लोकों में पूर्वादि दिशाओं के वायु का फल तथा अठाइसहवें सद्योवर्षणाध्याय के २४ श्लोकों वर्षाप्रश्न में चन्द्र की स्थितिवश वर्षा का ज्ञान सूर्य की किरणों, गिरगिट आदि के वश वर्षादि का वर्णन , उनतीसहवें कुसुमलताध्याय के १४ श्लोकों में किस वस्तु से किसकी वृद्धि होती है तथा वृक्षों के पत्तों से वृष्टिज्ञान तथा तीसहवें सन्ध्यालक्षणाध्याय के ३३ श्लोकों में सन्ध्या का लक्षण, फलादेश के आधारवस्तु,

सन्ध्या का लक्षण और फल तथा पुर्वोक्त फलों के प्रदेश आदि विषयों का वर्णन है ।

इक्तीसहवें दिग्दाहलक्षणाध्याय के ५ श्लोकों में दिग्दाह का लक्षण एवं फल, बत्तीसहवें भुकम्पलक्षणाध्याय के ३२ श्लोकों में भुकम्पलक्षण में मतभेद, मण्डल के वश भुकम्प का प्रदेश, तथा भुकम्प होने के बाद फिर आसन्न काल में भुकम्प का फल प्रदर्शन इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

तैंतीसहवें उल्कालक्षणाध्याय के ३० श्लोकों में उल्का का स्वरूप, फल के समय का निर्णय, अशनि आदि उल्काओं का लक्षण, उल्का का भेद, उल्का से हत नक्षत्रों का फल, देवमुर्ति आदि पर गिरने से उल्का का फल चौंतीसहवें परिवेष लक्षणाध्याय २३ श्लोकों में परिवेष का स्वरूप, अशुभ परिवेष का लक्षण, परिवेष से वृष्टिज्ञान, परिवेष के द्वारा राजादि का नाश, परिवेष में रेखा के वश शुभाशुभ फल इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

इसी प्रकार पैंतीसहवें इन्द्रायुधलक्षणाध्याय में ८ श्लोक छत्तीसहवें गन्धर्वनगरलक्षणाध्याय में ५ श्लोक सैंतीसहवें प्रतिसुर्यलक्षणाध्याय में ३ श्लोक अड़तीसहवें रजोलक्षणाध्याय में ८ श्लोक उनतालिसहवें निर्घात लक्षणाध्याय में २ श्लोक, चालिसहवें सस्यजातकाध्याय में कुल १४ श्लोक एवं इकतालिसहवें द्रव्यनिश्चयाध्याय में १३ श्लोक तथा बयालिसहवें अर्घकाण्डाध्याय में १४ श्लोकों के सहित अध्यायों के नामस्वरूप वर्णन है ।

तैंतालिस इन्द्रध्वजसम्पदाध्याय के ६८ श्लोकों में इन्द्रध्वज की उत्पत्ति एवं उसका फल चवालिसहवें नीराजनाध्याय के २८ श्लोकों में नीराजन करने का समय तथा शान्ति का विधान पुन: पैंतालिसहवें खञ्जनलक्षणाध्याय के १६ श्लोकों में स्थान के वश खञ्जनदर्शन का फल तथा फल होने की अवधि,छियालिसहवें उत्पाताध्याय के ६६ श्लोकों में उत्पात होने के कारण तथा उनका शुभाशुभ फल, सैंतालिसहवें मयुरचित्रकाध्याय के २८ श्लोकों में ग्रहचारोक्त फल, ग्रह और नक्षत्र बिम्बों के वश फल, अड़तालिसहवें पुष्यस्नानाध्याय के ८७ श्लोकों में

पुष्य स्नान करने की विधि, स्थान एवं मन्त्र इत्यादि का वर्णन, उनचासहवें पट्टलक्षणाध्याय के ८ श्लोकों में मुकुट का प्रमाण और फल, पचासहवें खड्गलक्षणाध्याय के २६ श्लोकों में खड्ग का प्रमाण और व्रणों से शुभाशुभ फल, शस्त्रपान का प्रकार, इक्यावन अङ्गविद्याध्याय के ४४ श्लोकों में प्रश्न के समय अङ्ग स्पर्श के द्वारा शुभाशुभ फल तथा बावनहवें पिटक लक्षणाध्याय के १० श्लोकों में पिटक का लक्षण एवं फल विषयों का वर्णन है ।

तिरपनहवें वास्तुविद्याध्याय के १२५ श्लोकों में वास्तु ज्ञान की उत्पत्ति राजादिकों के गृहों का प्रमाण, शल्य आदि के द्वारा शुभाशुभ फल ज्ञान तथा चौवनहवें दकार्गलाध्याय के १२५ श्लोकों में विभिन्न वृक्षों के माध्यम से भूमिस्थ जल का ज्ञान, पचपनहवें वृक्षायुर्वेदाध्याय में ३१ श्लोकों के सहित विभिन्न वृक्षों के माध्यम से शुभाशुभ फलों का वर्णन है ।

छप्पनहवें प्रासादलक्षणाध्याय के ३१ श्लोकों में देवताओं के निवास स्थान तथा विहार स्थान प्रासादों के नाम इत्यादि तथा सत्तावनवें वज्रलेपाध्याय में वज्रलेप बनाने का प्रकार एवं उसका गुण, अट्ठावनवें प्रतिमालक्षणाध्याय के ५८ श्लोकों में प्रतिमानिर्माण प्रकार प्रतिमा का स्वरूप तथा विभिन्न देवताओं के प्रतिमा का वर्णन है ।

उनसठवें वन सम्प्रवेशाध्याय के १४ श्लोकों में वर्जनीय एवं अवर्जनीय वृक्ष, ब्राह्मणादि वर्णों के लिए शुभ वृक्ष, साठवें प्रतिमा प्रतिष्ठापनाध्याय के २२ श्लोकों में प्रतिमा पूजन प्रकार, प्रतिष्ठा का समय, ६१ वें गोलक्षणाध्याय के १९ श्लोकों में गौ के शुभाशुभ लक्षण, ६२ वें श्व लक्षणाध्याय के दो श्लोकों में कुत्ते एवं कुतिया का लक्षण, ६३ वें कुक्कुट लक्षणाध्याय के तीन श्लोकों में मुर्गे का शुभाशुभ लक्षण, ६४ वें कूर्मलक्षणाध्याय के तीन श्लोकों में कछुवे का शुभ लक्षण ६५ वें छागलक्षणाध्याय के ११ श्लोकों में छाग के शुभाशुभ लक्षणों का वर्णन है । ६६ वें अश्वलक्षणाध्याय के ५ श्लोकों में घोड़े का शुभाशुभ लक्षण ६७ वें हस्ति लक्षणाध्याय के १० श्लोकों में विभिन्न जाति

वाले गर्भो का लक्षण तथा ६८वें पुरुष लक्षणाध्याय के ११६ श्लोकों में पुरुषों के विभिन्न अङ्गों का लक्षण, ६९ वें पञ्च महापुरुष लक्षणाध्याय के ४० श्लोकों पञ्च महापुरुष योगों का विभाग तथा हंसादि पुरुषों का प्रमाण एवं मण्डलक पुरुष का लक्षण इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

७० वें स्त्रीलक्षणाध्याय के २६ श्लोकों में स्त्रियों के विभिन्न अङ्गों का लक्षण तथा शरीर के विभागादि का वर्णन, ७१ वें वस्त्रछेदन - लक्षणाध्याय के १४ श्लोकों में विभिन्न नक्षत्रों में वस्त्र पहनने का फल, नवधा-वस्त्र करने का प्रयोजन तथा उसका शुभाशुभ फल, ७२ वें चामर लक्षणाध्याय के ६ श्लोकों में चामर प्रयोजन, चामर का गुण, दण्ड आदि का लक्षण, ७३ वें छत्रलक्षणाध्याय के ६२ श्लोकों में छत्र प्रयोजन, युवराज आदि के दण्ड का प्रमाण ७४ वें स्त्रीप्रशंसाध्याय के २० श्लोकों में स्त्री की प्रशंसा परस्त्री गमन में प्रायश्चित्त, ७५ वें सौभाग्य करणाध्याय के दश श्लोकों में सुन्दर पुरुष की विशेषता, आत्मा की स्त्री में उत्पत्ति, सुभगता की प्रशंसा, ७६ वें कान्दर्पिकाध्याय के १२ श्लोकों में कामदेव को बांधने की लस्सी शुक्रवृद्धि का योग, जठराग्नि संदीपन करने का योग, सतहत्तरवें गन्धयुक्तिनामाध्याय के ३७ श्लोकों में केश के काला करने का प्रयोग, शिर: स्नान का प्रकार ७८ वें पु स्त्रीसमायोगाध्याय के २६ श्लोकों में अनुरक्त स्त्री का लक्षण, विरक्त स्त्री का लक्षण, स्त्रियों के गुण मैथुन काल का नियम, ७९ वें शय्यासन लक्षणाध्याय के ३९ श्लोकों में राजाओं के शैय्या और आसन में अशुभ वृक्ष, पाये का लक्षण, मिश्रित काष्ठ का फल तथा ८० वें रत्नपरीक्षाध्याय के १८ श्लोकों रत्नपरीक्षा का प्रयोजन, रत्नों के शुभाशुभ लक्षण रत्नों के नाम आदि विषयों का वर्णन है ।

८१ वें मुक्तालक्षणाध्याय में ३६ श्लोकों में मोतियों की उत्पत्ति-स्थान मोतियों का लक्षण मूल्यपरिज्ञान, ८२ वें पद्मराग लक्षणाध्याय के ११ श्लोकों में पद्मराग की उत्पत्ति गुणदोष एवं प्रभाव का वर्णन ८३ वें मरकत-लक्षणाध्याय के एक श्लोक में मरकत का प्रयोजन एवं लक्षण ८४ वें दीपलक्षणा-

ध्याय के दो श्लोक में, दोषों के शुभाशुभ लक्षण, ८५ वें दन्तकाष्ठ लक्षणाध्याय के ६ श्लोक में शमी आदि वृक्षों के दन्तधावन का फल, दन्तधावन करने का विधान तथा ८६ वें शाकुनाध्याय के ८० श्लोकों में शाकुन का प्रयोजन,लक्षण, फल विचार इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

८७ वें अन्तचक्रध्याय के ४५ श्लोकों में विभिन्न दिशाओं में स्थित शकुनों का फल, ८८ वें विरुताध्याय के ४७ श्लोकों में दिनचर एवं रात्रिचर जन्तुओं के नाम विभिन्न पक्षियों के शब्द, ८६ वें श्वचक्राध्याय के २० श्लोकों में कुत्ते की चेष्टा, कुत्तों के क्रन्दन आदि का फल, ६० वें शिवारुताध्याय के १५ श्लोकों में शृगाली की चेष्टा शिवा के अशुभ फल, ६१ वें मृगचेष्टिताध्याय के तीन श्लोकों में मृगों की चेष्टा वन में रहने वाले जन्तुओं का फल, ६२ वें गवेङ्गिताध्याय के ३ श्लोकों में गायों की चेष्टा एवं शब्द का फल तथा ६३ वें अश्वेङ्गिताध्याय के १५ श्लोकों में घोड़े की चेष्टा, घोड़े के नासारन्ध्र का फल शब्द का फल इत्यादि विषयों का वर्णन है ।

६४ वें हस्ति चेष्टिताध्याय के १४ श्लोकों में गजदन्त का लक्षण शुभाशुभ फल हाथी के दन्तभङ्ग का विशेष फल, हाथियों की चेष्टायें, ६५ वें वायस विरुताध्याय के ६२ श्लोकों में काक की चेष्टा एवं फल काकों की विशेषता विभिन्न वृक्षों पर स्थित काक का फल, काक के शब्द का फल ६६ वें शाकुनोत्तराध्याय के १७ श्लोकों में स्थिर एवं चक्र का लक्षण वर्णों का ज्ञान, आगत के आकृति का ज्ञान, नामाक्षर का आनयन, ६७ वें पाकाध्याय के १७ श्लोकों में पूर्वोक्त फलों के पाककाल,वन में कुत्ते आदि के फल, अग्नि के बिना, ज्वाला आदि के फलों का वर्णन है ।

६८ वें नक्षत्र कर्म गुणाध्याय के १७ श्लोकों में, नक्षत्रों के स्वामी विभिन्न संज्ञक नक्षत्र और उसमें विहित कर्म, क्षौर कर्म में विहित नक्षत्र, क्षौर कर्म के निषेध समय, ६६ वें तिथि कर्म गुणाध्याय के तीन श्लोकों में तिथियों के स्वामी, १०० वें करण गुणाध्याय के आठ श्लोकों में करणों के नाम स्वामी एवं

उनका फल १०१ वें नक्षत्र जातकाध्याय के १४ श्लोकों में विभिन्न नक्षत्रों में उत्पन्न जातकों का फल, १०२ राशिविभागाध्याय के ७ श्लोकों में विभिन्न राशियों में नक्षत्रों का विभाग १०३ वें विवाहपटलाध्याय के १३ श्लोकों में विभिन्न भावों में स्थित ग्रहों का फल गोधूलि की प्रशंसा, १०४ में ग्रहगोचराध्याय के ६४ श्लोकों में विभिन्न छन्दों के माध्यम से विभिन्न भावों में स्थित ग्रहों का गोचर फल १०५ वें रूपसत्राध्याय के १६ श्लोकों में पुरुष के अङ्ग विभाग में नक्षत्रों की स्थिति रूपसत्राख्य व्रत के आरम्भ करने का समय, मार्गशीर्ष आदि १२ मासों के नाम १०६ वें उपसंहाराध्याय के ६ श्लोकों में ज्योतिष शास्त्र एवं बुद्धि का माहात्म्य विद्वानों से प्रार्थना पूर्वाचार्यों को नमस्कार तथा १०७ वें शास्त्रानुक्रमण्यध्याय के १४ श्लोकों में बृहत्संहिता में आये हुये अध्यायों की अनुक्रमणिका का वर्णन है ।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य वराहमिहिर कृत दैवज्ञ वल्लभा प्राप्त होती है जो प्रश्न शास्त्र पर आधारित है । इस ग्रन्थ का आद्योपान्त अध्ययन करने से इस ग्रन्थ के विषय में यह सन्देह होता है कि यह प्रश्न शास्त्र आचार्य वराहमिहिर का है अथवा नहीं । इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र व्याकरणात्मक दोष तथा आचार्य द्वारा अन्य ग्रन्थों में कहे गये तथ्यों की पुनरुक्ति है ।

-o-

तृतीय अध्याय

-0-

आचार्य वराहमिहिर का गणित ज्योतिष में योगदान

(क) पौलिश सिद्धान्त ।

(ख) रोमक सिद्धान्त ।

(ग) वशिष्ठ सिद्धान्त ।

(घ) पैतामह सिद्धान्त ।

(ड०) सूर्य सिद्धान्त ।

—

तृतीय अध्याय

-0-

आचार्य वराहमिहिर का गणित ज्योतिष में योगदान

भारतीय गणित ज्योतिष शास्त्र में वराहमिहिर द्वारा संकलित पञ्चसिद्धान्तिका का महत्वपूर्ण स्थान है । इस ग्रन्थ में वराहमिहिर ने अपने समय में प्रचलित और अपने समय से पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों का सारांश दिया है। यद्यपि नाम से यह सिद्धान्त ग्रन्थ लगता है तथापि यह करणग्रन्थ है । अर्थात् इसमें कोई सिद्धान्त प्रतिपादित न कर खगोलशास्त्री गणनाओं के लिए नियम दिये गये हैं । यद्यपि इसमें कुछ ऐसे अध्याय भी हैं, जो करण ग्रन्थ की सीमा से परे सिद्धान्तों की श्रेणी में आते हैं । जैसे साधन इत्यादि । यह अन्य करण ग्रन्थों से इस सन्दर्भ में अलग है कि यह एक विशेष सिद्धान्त पर आधारित न होकर अपने समय के पांच प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख करता है ।[1] पञ्चसिद्धान्तिका में पैतामह, वाशिष्ठ, रोमक, पौलिश और सौर (सूर्य) इन पांच सिद्धान्तों का सारांश दिया गया है । वराहमिहिर ने यह भी लिख दिया है कि इन सिद्धान्तों में सबसे उत्तम कौन सिद्धान्त है, और शेष के स्थान क्या हैं । उन्होंने कहा है कि सूर्यसिद्धान्त सबसे उत्तम है, उसके बाद रोमक और पौलिश लगभग समकक्ष है और शेष दो सिद्धान्त इनसे बहुत हीन हैं ।[2] गोरखप्रसाद का कथन है कि थीबो और सुधाकर द्विवेदी यह ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाये कि प्रत्येक सिद्धान्त का विस्तार पञ्चसिद्धान्तिका में कहां तक है, क्योंकि कुछ अध्याय ऐसे हैं, जिनके न आरम्भ में और न अन्त में या कहीं अन्यत्र बताया गया है कि किस सिद्धान्त के अनुसार वह अध्याय लिखा गया है । अधिकांश अध्यायों के विषय में कोई सन्देह नहीं है । विवादग्रस्त अध्याय सम्भवतः वराहमिहिर के निजी हैं, या सम्भवतः

१- जी० थीबो - पञ्चसिद्धान्तिका की टीका की भूमिका, पृ० ८

२- पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमक प्रोक्तः ।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूर विभ्रष्टौ ।।

(पञ्चसिद्धान्तिका १। ४)

वे दो या अधिक सिद्धान्तों में सर्वनिष्ठ हैं।[१]

वराहमिहिर पञ्चसिद्धान्तिका में पौलिश, रोमक और सूर्यसिद्धान्त को जो विशेष महत्व दिया उसके पीछे प्रमुख कारण यह है कि वराहमिहिर सूर्य-ग्रहण की गणना-पद्धति निश्चित करना चाहते थे। क्योंकि उनके समय तक किसी आचार्य ने इस क्षेत्र में विशिष्ट कार्य नहीं किया। इस गणना में उपर्युक्त तीनों सिद्धान्त तो उपयोगी सिद्ध होते हैं किन्तु पितामह और वशिष्ठ सिद्धान्तों में सूर्यग्रहण की गणना के लिए कोई नियम नहीं दिया गया है।[२]

पञ्चसिद्धान्तिका में आचार्य ने जिन पांच सिद्धान्तों का निरूपण किया है उसमें प्रथम पौलिश सिद्धान्त है। पौलिश सिद्धान्त का निरूपण सूर्य और अरुण संवाद के व्याज से गर्गादि मुनियों ने पुलिश महर्षि के द्वारा जो ज्ञान ग्रह तारों के विषय में प्राप्त किया वह पौलिश सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है।[३]

वराहमिहिर के काल में पौलिश सिद्धान्त बहुत स्पष्ट था परन्तु थीबो पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित सिद्धान्त की व्याख्या नहीं कर सके। उनका कहना है कि पाण्डुलिपि के दोष के कारण सिद्धान्त की सन्तोषजनक व्याख्या में कठिनाई आती है।[४] इसमें अहर्गण लाने की विधि प्रथम अध्याय के ११, १३ श्लोक में दी गयी है। थीबो कहते हैं कि इससे सन्तोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। रोमक सिद्धान्त का अहर्गण पौलिश अहर्गण के आस-पास होता है।

१- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास, पृ० ८८।

२- थीबो भूमिका, पृ० ८

३- सुधाकर द्विवेदी - पञ्चसिद्धान्तिका की संस्कृत टीका, पृ० १

४- थीबो - पञ्चसिद्धान्तिका की भूमिका, पृ० ३२

इसके बाद तदुक्त सूर्यादि साधन चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण का आनयन है। यद्यपि इस सिद्धान्त में अहर्गण बनाने का नियम अशुद्ध था तथापि इसमें एक स्थान पर ६७६ की संख्या है।[1]

डा० गोरखप्रसाद के अनुसार अवश्य ही यह उन दिनों की संख्या है जिसके पश्चात् एक अधिमास पड़ता है।[2] इसी प्रकार ६३ (त्रिरंगु:) संभवत: उन दिनों की संख्या है जिसके पश्चात् एक तिथि का क्षय होता है। प्रतीत होता है कि पौलिश सिद्धान्त ने किसी बड़े युग को लेकर उसमें कुल अधिमासों और ६ ऋतुओं को बताने की रीति को नहीं अपनाया है। इसमें सिर्फ यह बताया गया है कि कितने-कितने दिनों पर अधिमास पड़ता है या क्षय तिथि पड़ती है। अगले दो श्लोकों में संशोधन की विधि बतायी गयी है। लेकिन वर्तमान पाठ से यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि कितना और किस तरह से शोधन किया जाता था। इसलिए हम देखते हैं कि पौलिश सिद्धान्त में गणना किसी नियमबद्ध तरीके से न करके सीधे स्थूल रूप से दिनों की गणना करने की पद्धति अपनायी गयी है।[3] पौलिश सिद्धान्त से उचित वर्षमान नहीं निकाला जा सकता। इसमें स्थूलत: वर्षमान ३६५ दिन ६ घन्टा १२ मिनट मान लिया गया है। पौलिश सिद्धान्त में भौमादि ग्रहों की गति स्थिति बिल्कुल नहीं बतायी गयी है। सिर्फ अन्त की लगभग १६ आर्याओं में ग्रहों का वक्रत्व, मार्गत्व, उदयास्त इत्यादि का कुछ विवेचन किया गया है।[4]

१- ऋतुसप्त नवमक्ता: । (पञ्चसिद्धान्तिका १।११)

२- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ६४

३- थीबो - भूमिका, पृ० ३२

४- द्विनाशाष्टा नवरसदिवसाऋतुसप्तनवभक्ता: ।
पौलिशमते क्षिमासास्त्रि ऋतुदिनान्यवमशेषा: ।।
तिथिदशशद्घा - - - - - - - - - - -
अवमविहीनं सावनमैन्दवमस्मान्वितं वारीमु ।।
(पञ्चसिद्धान्तिका १। ११,१२,१३,१४,१५, १६)

पञ्चसिद्धान्तिका में पौलिश सिद्धान्त सम्बन्धी अन्य कई बातें हैं। सूर्य और चन्द्रमा का स्पष्टीकरण तथा पलमा से चरखण्ड और चरखण्ड से दिनमान का आनयन बतलाया गया है। इसमें देशान्तर का भी विचार है। पौलिश सिद्धान्त में उज्जयिनी और काशी से यवनपुर का देशान्तर दिया गया है। डा० गोरखप्रसाद ने इस यवनपुर की तुलना अलेक्जेण्ड्रिया से की है। पौलिश सिद्धान्त में तिथि और नक्षत्रों के आनयन की जो पद्धति दी गयी है वह वर्तमान पद्धति के समकक्ष है। सूर्य और चन्द्रमा के महापात का विवेचन भी किया गया है। ग्रहणों का आनयन प्राय: आधुनिक इतर सिद्धान्तों के अनुसार ही है।[1] पौलिश सिद्धान्त में अवन्ती का चर सात घटी २० पल और वाराणसी का ६ घटी बताया गया है।[2] इस आधार पर दीक्षित जी का कहना है कि वेदाङ्ग ज्योतिष की भांति यहां दक्षिणायन समाप्तिकालीन दिनमान की अपेक्षा उत्तरायण समाप्तिकालीन दिनमान अधिक होता है। सायन पञ्चाङ्ग में उज्जयिनी का सबसे कम दिनमान २६ घटी २६ पल और सबसे अधिक दिनमान ३३ घटी ३४ पल है। इस प्रकार दोनों का अन्तर ७ घटी ८ पल होता है। ग्रहलाघव ग्रन्थ से उज्जयिनी का सबसे कम दिनमान २६ घटी २१ पल और सबसे अधिक दिनमान ३३ घटी ३६ पल होता है। अर्थात् दोनों का अन्तर ७ घटी १८ पल है। उज्जयिनी की पलमा ५।८ मानने से यह स्थिति होती है।

पौलिश सिद्धान्त में चन्द्र और सूर्य ग्रहण आनयन की विधि बहुत ही स्थूल रूप में दी गयी है, और रोमक तथा सूर्य सिद्धान्तों की तुलना में इससे अशुद्ध मान आता है। पौलिश सिद्धान्त का रचनाकार न तो विषय का सिद्धान्त

१- शंकर बालकृष्णदीक्षित - भारतीयज्योतिष, पृ० २२२

२- वही, पृ० २२२

और न ही उदाहरण प्रस्तुत करता है । बल्कि सरल सूत्र बताकर मौन रह जाता है । इसमें सूर्य चन्द्रमा के विस्तार निर्धारण और ग्रहण के समय छायामापन का कोई नियम नहीं बताया गया है ।[१]

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में मूल पौलिश सिद्धान्त में कई बार संशोधन और परिवर्धन किया गया । भट्टोत्पल को जिस सिद्धान्त की जानकारी थी वह मूल सिद्धान्त से सर्वथा अलग थी । थीबो का कहना है कि भट्टोत्पल के समय तक पौलिश सिद्धान्त में इतने परिवर्तन हुए थे कि उसने सर्वथा एक नये सिद्धान्त का रूप ले लिया था ।[२]

रोमक सिद्धान्त की चर्चा करते हुए सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है कि ब्रह्मशापवश सूर्य ने रोमक नगर में निवास करने वाले यवन जातियों को जो आकाशीय पिण्डों का ज्ञान प्रदान किया वही रोमक सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है ।[३] रोमक सिद्धान्त श्रीषेण द्वारा निर्मित माना जाता है ।[४] कोलब्रुक एवं भाऊदाजी भी यही मानते हैं । लेकिन थीबो का मत है कि हम श्रीषेणरचित जिस रोमक सिद्धान्त की बात करते हैं वह मूल न होकर उसका संशोधित संस्करण है । इसमें श्रीषेण ने अपने समय की प्रचलित अन्य खगोलशास्त्रियों के मतों का भी समावेश किया है ।[५] ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में श्रीषेण रचित

१- थीबो - पञ्चसिद्धान्तिका की टीका की भूमिका, पृ० ३४

२- वही - पृ० ३८

३- सुधाकर द्विवेदी - पञ्चसिद्धान्तिका की टीका, पृ० १

४- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ६२

५- थीबो - पञ्चसिद्धान्तिका टीका की भूमिका, पृ० २७

जिस रोमक सिद्धान्त की चर्चा की है उसकी तुलना वराहमिहिर द्वारा उद्धृत रोमक सिद्धान्त से करने पर हमें कई अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं । ब्रह्मगुप्त ने लिखा है कि श्रीषेण ने स्पष्टीकरण (स्पष्ट) के लिए आर्यभट के नियमों को आधार माना है । लेकिन वराहमिहिर द्वारा संकलित रोमक सिद्धान्त के अध्ययन से ऐसा लगता है कि इस रोमक सिद्धान्त में आर्यभट को आधार नहीं माना गया है । इसलिए वराहमिहिर द्वारा उद्धृत रोमक सिद्धान्त श्रीषेण का नहीं माना जा सकता ।[१]

ऐसा लगता है कि श्रीषेण ने प्राचीन रोमक सिद्धान्त का संशोधन करते समय उसमें आर्यभट के नियमों का समावेश कर लिया है । रोमक सिद्धान्त के अनुसार अहर्गण बनाने के लिए ४२७ शकवर्ष घटाने की बात कही गयी है । इसका अर्थ यह होता है कि शक ४२७ आदिकाल माना गया है । जहां से अहर्गण की गणना आरम्भ की गयी है । वराहमिहिर ने स्वयं अध्याय १५ श्लोक १८ में लिखा है कि लाटाचार्य ने कहा है कि यवनपुर के सूर्यास्त से अहर्गण की गणना की जाती है । इससे स्पष्ट है कि लाटाचार्य अवश्य थे और वे श्रीषेण से पर्याप्त पहले रहे होंगे । अन्यथा श्रीषेण को नवीन सिद्धान्त लिखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । इन सभी बातों से यही अनुमान किया जाता है कि रोमक सिद्धान्त और भी पुराना रहा होगा और शक ४२७ रोमक का निजी आदिकाल नहीं है, इसे वराहमिहिर ने लिया है ।

पञ्चसिद्धान्तिका में रोमक सिद्धान्त के अतिरिक्त रोमक देश का भी नाम आया है, यवनपुर, यवनाचार्य आदि शब्द भी आये हैं । यवनपुर का देशान्तर भी दिया है । जिससे पता चलता है कि यवनपुर अलेक्जेंड्रिया नामक नगर रहा होगा । फिर जैसा ऊपर बताया गया है, रोमक सिद्धान्त के मुख्य

१- थीबो - पञ्चसिद्धान्तिका टीका की भूमिका, पृ० २८

स्थिरांक वे ही थे जो यवन ज्योतिष में प्रचलित थे । इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि रोमक सिद्धान्त यवन ज्योतिष पर आश्रित था ।[१]

ग्रीक ज्योतिषी हिपार्कस का समय ईसा के लगभग १५० वर्ष पूर्व है । उनका वर्षमान बिल्कुल रोमक सिद्धान्त के वर्षमान (३६५ दिन १४ घटी ४८ पल) सरीखा है । सम्प्रति हिपार्कस का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर मान्य यूरोपियन ज्योतिषियों का कथन है कि उन्होंने केवल सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति लाने के कोष्ठक बनाये थे, ग्रहसाधन के नहीं । बाद में टालमी उनके मूल तत्वों का अनुसरण करते हुए ग्रहसाधन के कोष्ठक बनाये और वे यह भी स्वीकार करते हैं कि ग्रीक ज्योतिष पद्धति के मूल तत्व टालमी के पहले ही भारतवर्ष में आ चुके थे । रोमक सिद्धान्त में केवल सूर्य और चन्द्रमा का गणित है, उसका वर्षमान अन्य किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ से नहीं मिलता, सर्वमान्य युगपद्धति उसमें नहीं है,और उसका यह नाम भी पाश्चात्य ढंग का है । अतः इन सब कारणों का विचार करने से विदित होता है कि मूल रोमक सिद्धान्त हिपार्कस के ग्रन्थानुसार बना होगा और उसका रचनाकाल ईसवी सन् पूर्व १५० के पश्चात् और टालमी के समय १५० ई० के पूर्व होगा ।[२] शंकर बालकृष्णदीक्षित ने रोमक सिद्धान्त को अन्य चार सिद्धान्त, पौलिश आदि की अपेक्षा अर्वाचीन माना है ।[३]

पञ्चसिद्धान्तिका के प्रथमाध्याय के अष्टम, नवम् एवं दशम आर्यायों में रोमक सिद्धान्त के अनुसार अहर्गण साधन बतलाया गया है । पन्द्रहवीं आर्या में

१- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ९४

२- शंकर बालकृष्णदीक्षित - भारतीय ज्योतिष, पृ० २१९

३- वही, पृ० २२०

अधिमास, और तिथि क्षय का वर्णन है । आठवें अध्याय में १८ श्लोक हैं । सभी अध्याय में रोमक सिद्धान्त सम्बन्धी ही बातें हैं । उसमें सूर्य और चन्द्रमा का साधन उनका स्पष्टीकरण और उनके ग्रहणों का आनयन है । पन्द्रहवीं आर्या में रोमक सिद्धान्त के युगों का संक्षिप्त वर्णन है । यह युग भी सूर्य चन्द्रमा का युग कहा गया है । परन्तु उसमें २८५० वर्ष है । एक युग में १०५० अधिमास और १६ हजार ५ सौ ४७ (१६५४७) क्षय तिथियां बतलायी गयी हैं । यदि हम इन संख्याओं को १५० से भाग दें तो रोमक सिद्धान्त के अनुसार १९ वर्ष में ठीक-ठीक सात अधिमास होते हैं । ये संख्याएं ठीक वही हैं, जिनका प्रचार प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी मेटन ने लगभग ४३० ई० पूर्व में किया था । रोमक सिद्धान्त के कर्ता ने १९ वर्ष का युग न मानकर २८५० वर्षों का युग इसलिए माना कि युग में केवल वर्षों और मासों की पूर्ण संख्याएं न हों, दिनों की भी संख्या पूर्ण हों ।[१]

वशिष्ठ ने अपने पुत्र पाराशर को जो ज्ञान प्रदान किया वह वशिष्ठ सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[२] पञ्चसिद्धान्तिका में वशिष्ठ सिद्धान्त बहुत संक्षेप में वर्णित है, यह बहुत कुछ पितामह सिद्धान्त की तरह है परन्तु उससे कई बातों में अधिक शुद्ध है । वराहमिहिर ने इस सिद्धान्त और पितामह सिद्धान्त को न्यूनतम माना है ।[३] अत: यह पितामह सिद्धान्त को छोड़कर शेष तीनों से प्राचीन माना जा सकता है । पञ्चसिद्धान्तिका में वशिष्ठ सिद्धान्त सम्बन्धी १३ श्लोक है । उनकी कम संख्या को देखते हुए थीबो ने अपना मत

१- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ५१

२- सुधाकर द्विवेदी- पञ्चसिद्धान्तिका की टीका, पृ० १

३- पञ्चसिद्धान्तिका १।४

व्यक्त किया है कि हो सकता है मूलपञ्चसिद्धान्तिका में इस सिद्धान्त-सम्बन्धी श्लोकों की संख्या अधिक रही हो जो अब अनुपलब्ध है।[१] वशिष्ठ सिद्धान्त के इन तेरह श्लोकों में सूर्य और चन्द्रमा को छोड़कर किसी अन्य ग्रह के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है। उसमें तिथि नक्षत्रानयन पद्धति राशि, अंक, कला के जो मान हैं वे आधुनिक पद्धति से भिन्न हैं। इसमें छाया का विचार विशेष रूप से किया गया है, लेकिन दिनमान का बहुत स्वल्प विचार है।[२] श्लोक ८ में जहां वर्ष के किसी समय दिन का मान निकालने के लिए दी गयी है वह दैनिक वृद्धि के सन्दर्भ में तो पितामह सिद्धान्त के समान है। लेकिन जहां लघुतम और दीर्घतम दिनों की चर्चा है, वहां यह सिद्धान्त पितामह सिद्धान्त से भेद रखता है। श्लोक ६ से १३ में छाया की लम्बाई, सूर्य स्पष्ट और लग्न निकालने की विधि दी गयी है, वह भी प्राचीनतम है। परन्तु पितामह सिद्धान्त से विकसित स्तर का है।[३]

वशिष्ठ सिद्धान्त ने भचक्र को नक्षत्रों में न विभाजित कर राशि, अंश, कला, विकला में विभाजित किया। इसमें लग्न का व्यवहार उसी सन्दर्भ में किया गया है। जिस सन्दर्भ में इसका प्रयोग आ सकता है। अर्थात् समय विशेष में पूर्वी क्षितिज पर उदित होने वाला राशिचक्र का भाग विशेष। लेकिन इसमें बतायी गयी विधियां इतनी स्थूल हैं कि उससे निकाले गये मान में पूरी अशुद्धि रहने की सम्भावना रहती है, इसलिए वशिष्ठ सिद्धान्त को वैज्ञानिक हिन्दू खगोल-

----

१- थीबो भूमिका वही पृ० ३८

२- मकरादौ गुणयुक्तो भूस्वर्गैतिनिधिभिर्तो सेर्दिवस: ।
कर्कटकादिषु षट्सु त्र्यस्मिका: शर्वरीमानम् ।
(पञ्चसिद्धान्तिका २।८)

३- कर्कटकादिषु मुक्तं द्विगुणं माध्यन्दिनीमर्कच्छाया ।
मकरादिषु चाप्येवं किं चास्मिन् मण्डलाच्छोध्यम् ।।

(शेष पाद टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें)

शास्त्र में नहीं शामिल किया जा सकता ।[१]

ब्रह्मगुप्त ने अपने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में विष्णुचन्द्र के लिखे वशिष्ठ-सिद्धान्त का उल्लेख किया है । ब्रह्मगुप्त के वशिष्ठ सिद्धान्त और वराह-मिहिर के वशिष्ठ सिद्धान्त दोनों में अन्तर है । शंकरबालकृष्ण दीक्षित का मानना है कि ब्रह्मगुप्त के समय (शक ५५०) वशिष्ठ और रोमक सिद्धान्त दो-दो थे । ब्रह्मगुप्त ने लिखा है किलाटकृतग्रन्थ से मध्यमरवि, चन्द्र, चन्द्रोच्च,मङ्गल, बुध, गुरु शुक्र और शनि वशिष्ठ सिद्धान्त से युगपात वर्ष और भगण, विजयनन्द-कृत ग्रन्थ से पात और आर्यभटीय से मन्दोच्च, परिधिपात और स्पष्टीकरण लेकर श्रीषेण ने रोमक की मानो कन्थन (गुदड़ी) बनायी है । विष्णुचन्द्र ने उन्हीं मानो द्वारा वशिष्ठ-सिद्धान्त बनाया है ।[२] इससे सिद्ध होता है कि विष्णुचन्द्र द्वारा निर्मित वशिष्ठ सिद्धान्त से पहले भी कोई अन्य वशिष्ठ सिद्धान्त प्रचलित था, और ब्रह्मगुप्त उन दोनों को जानते थे ।[३]

मध्यान्हच्छायार्द्धं सक्रिमकौ ऽयने भवेद्याम्ये ।
उद्गयने संशोध्यंपञ्चदशभ्यो रविर्भवति ।।
द्वादभि: सच्छाये मध्यान्हानेर्मविद्रसहुताशम् ।
अपरान्हे चक्राकृद्विशोध्य सार्कं भवति लग्नम् ।।
कार्के लग्ने लिप्ता: प्राक् पश्चाच्छोधितास्तु चक्राद्वा ।
कार्यश्छेद: शून्याम्बराष्टलवणोदधिदकानाम् ।।
लव्धं द्वादशहीनं मध्यान्हच्छाययासमायुक्तम् ।
सा विनैया छाया वाशिष्ठसमासिद्धान्त ।।
(पञ्चसिद्धान्तिका २।६,१०,११,१२, १३)

१- थीबो की भूमिका वही पृ० ३८

२- शंकरबालकृष्णदीक्षित- भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २१५

३- (१) मूलवशिष्ठ सिद्धान्त । (२) विष्णुचन्द्र कृत वशिष्ठसिद्धान्त ।
(वही, पृ० २१५)

ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त में उनसे प्राचीन जिन ज्योतिषियों के नाम आये हैं, प्राय: वे सभी पञ्चसिद्धान्तिका में भी हैं, पर उसमें श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के नाम नहीं हैं। वाशिष्ठ और रोमक सिद्धान्त भी एक-एक ही हैं। इससे प्रतीत होता है कि शक ४२७ के पहले केवल मूल रोमक सिद्धान्त और वशिष्ठ सिद्धान्त ही थे। श्रीषेण का रोमक और विष्णुचन्द्र का वाशिष्ठ सिद्धान्त दोनों नहीं थे। पञ्चसिद्धान्तिका में मूलरोमक और वशिष्ठ सिद्धान्तों का सारांश लिखा है। ब्रह्मगुप्त के कथनानुसार श्रीषेण और विष्णुचन्द्र ने स्पष्टीकरण विषय आर्यभटीय से लिये हैं इससे भी उनके सिद्धान्तों का रचनाकाल शके ४२१ के बाद सिद्ध होता है।[१]

इस समय न तो विजयनन्दी का ग्रन्थ है और न विष्णुचन्द्र का वशिष्ठ सिद्धान्त उपलब्ध है। थीबो के अनुसार लघुवशिष्ठसिद्धान्त (पंडित विन्ध्येश्वरीप्रसाद दुबे द्वारा सन् १८८१ में बनारस से प्रकाशित, इसमें ४ अध्याय एवं ९४ श्लोक हैं) का वराहमिहिर या विष्णुचन्द्र के वशिष्ठ सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है।[२]

पञ्चसिद्धान्तिका के बारहवें अध्याय में पितामह सिद्धान्त का सारांश दिया गया है। इस अध्याय में कुल ५ श्लोक हैं। लेकिन ये पांच श्लोक ही इस प्राचीन सिद्धान्त के बारे में पर्याप्त सूचना देते हैं।[३] वराहमिहिर के

१- शंकर बालकृष्ण दीक्षित - भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २१५

२- थीबो - पञ्चसिद्धान्तिका टीका की भूमिका, पृ० ३९

३- रविशशिनो: पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।
अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमो द्विषष्ट्या तु ॥
द्युनं शकेन्द्रकालं पञ्चभिरुद्धृत्यशेषवर्षाणाम्।
द्युगणं माघसिताद्यं कुर्याद् द्युगणंतदहन्युदयात् ॥

(शेष पाद टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें)

समय में ज्ञात पितामह सिद्धान्त हिन्दू खगोलशास्त्र का वह रूप प्रस्तुत करता है जिस पर यूनानियों का रंचमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा है ।[१] इसलिए यह ज्योतिष-वेदाङ्ग, गर्गसंहिता, सूर्यप्रजापति और इसी तरह के अन्य सिद्धान्तों की कोटि में आता है । वराहमिहिर का पितामह सिद्धान्त और ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धान्त अलग-अलग है । ब्रह्मसिद्धान्त, विष्णुधर्मोत्तरपुराण में गद्य में वर्णित एक लघु अंश भी है । थीबो ने पञ्चसिद्धान्तिका में वर्णित पितामहसिद्धान्त, विष्णुधर्मोत्तर का पितामहसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त का स्फुटब्रह्मसिद्धान्त और शाकल्य सिद्धान्त के रूप में वर्णित ब्रह्मसिद्धान्त नामक चार पितामह सिद्धान्तों का उल्लेख किया है ।[२]

पितामह सिद्धान्त का युग ३६६ दिन वाले ५ सौर वर्षों का है, जिसमें ६० सौरमास ६२ चान्द्रमास और ६७ नाक्षत्रमास के बराबर है । युग का प्रारम्भ धनिष्ठा के प्रथम अंश पर सूर्य और चन्द्रमा के युति से माना गया है ।

सैकाष्टयंशे गणे तिथिभिमार्के नवाहृते द्यर्के: ।
दिग्रसभागे: सप्तभिरूनं शशिभं धानिष्ठाद्यम् ॥
प्रागर्द्धे पर्वयदा तदोत्तरा ऽतोऽन्यथा तिथि: पूर्वा ।
अर्कघ्ने व्यतिपाता धुगणे पञ्चाम्बरहुताशै: ॥
द्व्याग्निनगेषु चरत: स्वमितमेध्यदिनमपि याम्यायनस्य ।
द्विघ्नं शशिरसभक्तं द्वादशहीनं दिवसमानम् ॥
(पञ्चसिद्धान्तिका १२। १, २,३, ४, ५)

१- थीबो ने १८७७ई० में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल के शोधपत्र में ज्योतिषवेदाङ्ग पर प्रकाश डाला है ।

२- थीबो भूमिका पृ० २१

वर्ष का दीर्घतम दिन १८ मुहूर्त का और लघुतम दिन १२ मुहूर्त का माना गया है। इस बीच दिन समान रूप से घटता और बढ़ता है। पितामह-सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा और सूर्य के पांच वर्षों का एक युग ३० महीनों के बाद एक अधिमास, और ६३ दिनों के बाद एक क्षयतिथि होती है।[१] शकेन्द्रकाल में से २ घटाकर शेष में ५ का भाग देने से अवशिष्ट वर्षों का अहर्गण माघशुक्लादि से बनावे, तो उस दिन जो अहर्गण होगा, वह उदयकाल से होगा। पांचवी आर्या में दिनमान लाने की रीति बतलायी गयी है। उत्तरायण के जितने दिन व्यतीत हुए हों अथवा दक्षिणायन में जितने दिन शेष रह गये हों उनमें से २ का गुणा-कर ६१ का भाग दें, भागफल में १२ मुहूर्त जोड़ देने पर दिनमान हो जाता है।[२] दूसरी आर्या में नक्षत्र लाने की रीति बतलायी गयी है। उसमें धनिष्ठा से नक्षत्रारम्भ किया गया है। इन दोनों बातों में पितामह सिद्धान्त वेदाङ्गज्योतिष से साम्य रखता है। वेदाङ्गज्योतिष और पितामहसिद्धान्त में साम्य रहते हुए भी भेद भी कम नहीं है। वेदाङ्गज्योतिष में भौमादिग्रहों का गणित नहीं है। परन्तु ब्रह्मगुप्त के कथन से पितामह सिद्धान्त में उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः वेदाङ्गज्योतिष के कुछ काल बाद उससे शुद्ध पितामह सिद्धान्त बना होगा। यह बात सिद्ध है और बड़े महत्त्व की है। यदि पितामह सिद्धान्तोक्त भौमादिग्रहों का गणित ज्ञात होता तो भारतीय ज्योतिषशास्त्र की वृद्धि क्रमशः कैसे हुई यह जानने में उससे बड़ी सहायता मिलती।[३]

वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका के पांचो सिद्धान्तों में सूर्य सिद्धान्त का प्रमुख स्थान है। इस समय जो सूर्य सिद्धान्त उपलब्ध है वह वराह-

---

१- पञ्चसिद्धान्तिका १२। १, २

२- पञ्चसिद्धान्तिका १२। ५

३- शंकरबालकृष्णदीक्षित - भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २१३

मिहिर के सूर्य सिद्धान्त से अनेक स्थलों पर अन्तर रखता है । लगता है परवर्ती भाष्यकारों ने सूर्य सिद्धान्त को परिष्कृत करने के लिए उसके ध्रुवांकों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया है ।[१]

पञ्चसिद्धान्तिका में पांचों सिद्धान्तों का सूर्य और चन्द्रानयन पृथक्-पृथक् दिखलाया है । किन्तु शेष ग्रह केवल सूर्यसिद्धान्त के ही हैं । इससे परिलक्षित होता है कि वराहमिहिर ने सूर्यसिद्धान्त को अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है । प्रारम्भ के ही चतुर्थ आर्या में सावित्र को सबसे स्पष्ट कहा है । खगोलीय तत्वों का क्रमिक स्पष्ट निरूपण सूर्यसिद्धान्त के द्वारा ही स्पष्ट होता है । नक्षत्रकाल, चन्द्रकाल, सौरकाल, बृहस्पतिमान, सावनमान, अधिमास, क्षयमास, युगों का भगण, काल की परिभाषा, ग्रहों की गति तथा अष्टधागति के वर्णन के साथ-साथ अहर्गण, ग्रहों का स्पष्टीकरण, मध्यमग्रह, स्पष्टग्रह, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उदय, अस्त, ग्रहों की युति के वर्णन के साथ-साथ भौगोलिक स्थिति का सही निरूपण सूर्यसिद्धान्त में जैसा मिलता है वैसा अन्य चार सिद्धान्तों में उपलब्ध नहीं होता है ।

पञ्चसिद्धान्तिका में १४ हवीं आर्या में सूर्यसिद्धान्तानुसार अहि।-

---

१- डा० गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० ११३

हिन्दी में सूर्यसिद्धान्त का महावीरप्रसाद श्रीवास्तव कृत् विज्ञान भाष्य तथा मूल, जो विज्ञानपरिषद् इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था, सर्वोत्तम है। एक अंग्रेजी अनुवाद पादरी बर्जेस ने १८६० ई० में प्रकाशित कराया था, जिसे कलकत्ता विश्वविद्यालय ने १६३५ में फिर से छापा । इसमें प्रबोधचन्द्रसेनगुप्त की भूमिका भी है, जिसमें सूर्यसिद्धान्त सम्बन्धी कई बातों का विशद् विवेचन है ।

मास इत्यादि बताया गया है । नवमाध्याय की २६ और दशमाध्याय की ७ वीं आर्या में सूर्यचन्द्रानयन और ग्रहणादि का उल्लेख है । एकादश अध्याय के सभी ६ श्लोकों में ग्रहण का ही विचार है । और वह भी सूर्य सिद्धान्तानुसार ही मालूम होता है । १६ हवें अध्याय में कुल २७ श्लोक हैं । उनमें भौमादि सभी मध्यमग्रहों का आनयन, उनका स्पष्टीकरण और उनके वक्रत्व, मार्गत्व, उदय तथा अस्तादि का गणित है ।[१]

सूर्यसिद्धान्त में वर्षमान ३६५ दिन १५ घटी ३१ पल ३० विपल सिद्ध होता है । पञ्चसिद्धान्तिका के सूर्यसिद्धान्त में करणारम्भ के समय ग्रह स्पष्ट लिखा गया है । इसमें सूर्य चन्द्र का स्पष्ट शके ४२७ चैत्रकृष्णपक्ष, चतुर्दशी, रविवार के मध्यान्ह काल का है और शेष ग्रहों के मध्यरात्रि का स्पष्ट है । इसमें राहुग्रह का वर्णन नहीं है । नवम् अध्याय के पांचवी आर्या में राहु की गति, स्थिति का वर्णन है ।[२] सोलहवें अध्याय की प्रथम आर्या में कहा गया है कि ग्रह स्पष्ट मध्य रात्रि का है । पर उसमें यह नहीं बतलाया गया है कि वे किस दिन के हैं ।

उपर्युक्त भगणों द्वारा लाये हुए चैत्रकृष्ण चतुर्दशी रविवार की मध्यरात्रि के अर्थात् उस दिन होने वाले मध्यम मेषसंक्रान्ति से ३ घटी ६ पल पहले के ग्रह इन श्लोकों में लिखे हुए ग्रह स्पष्ट रूप से मिलते हैं ।[३] छठीं आर्या में मंगल का स्पष्ट है । नवें श्लोक में बुध का स्पष्ट है लेकिन दोनों में विकलायें छोड़ दी गयी हैं । शुक्र स्पष्ट में भी ४ विकला की कमी है । शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने माना है कि इन त्यक्त विकलाओं का कोई विशेष मूल्य नहीं है[४] ।

१- शंकरबालकृष्ण दीक्षित - भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २२७

२- पञ्चसिद्धान्तिका ६। ५,६

३- शंकरबालकृष्ण दीक्षित - भारतीय ज्योतिषशास्त्र, पृ० २३०

४- वही पृ० २३०

वराहमिहिर के सूर्यसिद्धान्त के अनुसार १,८०,००० वर्षों में ६६३८६ अधिमास (Intercalary Months इण्टरकेलरी मन्थ) और १०,४५०६५ क्षयचान्द्रतिथियां होती हैं । १ लाख ८० हजार १ महायुग का २४ वां भाग होता है । यदि हम ऊपर दी हुई संख्या के एक युग के सावन दिनों की संख्या को घटायें तो १ अरब ५७ करोड़ ७६ लाख १७ हजार ८ सौ (१५७७६१७८००) आता है । जबकि आधुनिक सूर्यसिद्धान्त के अनुसार १५७७६-१७८२८ आता है । इन संख्याओं से एक सायन वर्ष का मान प्राचीन सूर्यसिद्धान्त के अनुसार ३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट ३६ सेकेण्ड आता है । जबकि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार ३६५ दिन ६ घंटा १२ मिनट ३६. ५६ सेकेण्ड होता है [1] । इस तरह दोनों सूर्य सिद्धान्तों में एक युग में २८ दिन का अन्तर आता है । जैसा कि ऊपर अध्याय १६ में स्पष्ट किया गया है कि चन्द्र और सूर्य ग्रहों के अतिरिक्त अन्य ग्रहों को मध्यम गति दी गयी है । इसमें एक महायुग में ग्रहों की राशि मण्डल की आवृत्ति संख्या दी गयी है । दोनों सिद्धान्त मात्र बृहस्पति की आवृत्ति संख्या पर ही एक मत है, शेष ग्रहों की आवृत्ति संख्या अलग-अलग है । जबकि आर्यभट का कहना है कि एक महायुग में बृहस्पति राशि मण्डल ३६४२२४ (३लाख ६४ हजार दो सौ चौबीस) आवृत्ति करता है [2] ।

ग्रह	=	प्राचीनसूर्यसिद्धान्त		आधुनिक सूर्यसिद्धान्त
बुध	=	१७९३७०००	-	१७९३७०६०
शुक्र	=	७०२२३८८	-	७०२२३७६
मंगल	=	२२९६८२४	-	२२९६८३२
बृहस्पति	=	३६४२२०	-	३६४२२०
शनि	=	१४६५६४	-	१४६५६८

१- थीबो भूमिका पृ० १७

२- वही ,, पृ० १९

प्राचीन सूर्यसिद्धान्त शुक्र, मंगल और शनि के आवृत्ति के बारे में आर्यभट और पौलिश सिद्धान्त (भटोत्पल के अनुसार) से सहमत हैं । जबकि आधुनिक सूर्यसिद्धान्त सिर्फ बुध और बृहस्पति के सन्दर्भ में ही पौलिश सिद्धान्त को आधार मानते हैं ।

जहां तक सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की गणना का प्रश्न है सूर्य सिद्धान्त और आधुनिक सूर्यसिद्धान्त में समानता है, लेकिन डा० गोरखप्रसाद के अनुसार दोनों सिद्धान्तों में ग्रहण गणना के जो नियम बताये गये हैं, उनमें इतने संशोधन छूट जाते हैं कि अन्तिम गणना बेकार ही रह जाती है ।[१]

१- गोरखप्रसाद - भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० १३३

बरजेस ने २६ मई सन् १८५४ के सूर्यग्रहण की गणना अमेरिका के एक नगर के लिए अपने सहायक भारतीय पंडित से सूर्यसिद्धान्त के अनुसार कराकर प्रकाशित की है और गणना में जहां कहीं अशुद्धता रह गयी थी उसका संशोधन भी कर दिया है । अन्तिम परिणाम यह निकला है कि आंख से देखे गये ग्रहण के समय और गणना द्वारा प्राप्त समय में पौने दो घंटे से अधिक का अन्तर पड़ता है । विज्ञानभाष्य में श्रीमहावीर प्रसाद श्रीवास्तव ने उदाहरण स्वरूप काशी के लिए संवत् १६८२ के माघ कृष्ण अमावस्या के सूर्यग्रहण की गणना सूर्यसिद्धान्त के अनुसार की है । इस गणना में लगभग ४० पृष्ठ लगे हैं । अन्तिम परिणाम यह निकला है कि ग्रास का परिणाम लगभग २६ कला है ; अर्थात् सूर्य के व्यास का तीन चौथाई से अधिक भाग छिप जाना चाहिए और सूर्यग्रहण ६ घटी ४४ पल (दो घन्टे से अधिक समय तक) लगा रहना चाहिए । परन्तु वास्तव में यह ग्रहण लगा नहीं । काशी के जो लोग इस ग्रहण को देखने की चेष्टा में थे, उन्हें भी ग्रहण नहीं दिखायी पड़ा, और आधुनिक गणना से भी सिद्ध हुआ कि ग्रहण नहीं दिखायी पड़ना चाहिए ।

(गोरख प्रसाद-भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास, पृ० १३३,३४)।

इस प्रकार पञ्चसिद्धान्तिका के आद्योपान्त अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थ के १८ अध्याय में से द्वादश अध्याय में पितामह सिद्धान्त, अध्याय २ में वशिष्ठ सिद्धान्त, अध्याय ८ में रोमक सिद्धान्त, अध्याय ३, ६, ७ एवं १८ में पौलिश सिद्धान्त तथा अध्याय ६, १०, १६ एवं १७ में सूर्यसिद्धान्त इस प्रकार ग्यारह अध्याय में पांचों सिद्धान्त लिखे गये हैं, तथा अध्याय १, ४, ५, ११, १३, १४ एवं १५ में वराहमिहिर ने स्वत: का (करणग्रन्थ और सिद्धान्तोपकरणरूप) कथन किया है। उसमें प्रस्तुतस्तुति के श्लोक छेदकयन्त्राध्याय में लिखे गये हैं।

-०-

चतुर्थ अध्याय
-0-

संहिताज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर का योगदान

(क) विषय प्रवेश ।

(ख) खगोल विषयक सामग्री तथा उसके आधार पर पृथ्वी निवासियों को प्राप्त होने वाले सुख दु:ख का विवेचन ।

(ग) वराहमिहिर के मत में विभिन्न खगोलीय स्थितियों के आधार पर वर्षा अथवा सूखे की स्थिति ।

(घ) प्राकृतिक घटनाओं भूकम्प, उल्कापातादि की भविष्यवाणी के लिए वराहमिहिरोक्त लक्षण ।

(ङ०) वास्तु विषयक वर्णन एवं भूमिस्थ जलज्ञान के साधन ।

(च) पशु पक्षी आदि के विशिष्ट लक्षणों के आधार पर राजा या प्रजा पर होने वाले शुभाशुभ फल वर्णन ।

(छ) रत्नों के परीक्षण सम्बन्ध में वराहमिहिर के विचार ।

(ज) पशु पक्षियों के शब्द तथा उनके विशिष्ट चेष्टाओं के आधार पर सम्भावित शुभाशुभ की सूचना ।

(झ) विभिन्न छन्दों के माध्यम से मानव जीवन पर घटित होने वाले ग्रहों के शुभाशुभ गोचरीय फल ।

—

चतुर्थ अध्याय
-o-

संहिताज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर का योगदान

संहिता को फलित स्कन्ध के मुख्य पांच भेदों में -- जातक, ताजिक, मुहूर्त, प्रश्न और संहिता एक माना गया है।[१] शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार ज्योतिष की सब शाखाओं के विवेचन से युक्त ग्रन्थ को पहिले संहिता कहते थे, परन्तु वराहमिहिर के समय गणित और होरा से भिन्न तृतीय शाखा को ही संहिता कहा जाने लगा।[२] स्वयं आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को ३ स्कन्धों में विभाजित किया है। १-सिद्धान्त ज्योतिष - जिसमें गणित का वर्णन मिलता है, इसी को तन्त्र नाम से भी जाना जाता है। २- होरा (फलित, जातक) जिसमें व्यक्ति के अथवा प्राणियों के जन्मपत्रादि का वर्णन मिलता है। ३- संहिता -- इसमें भौतिक फलित ज्योतिष तथा खगोल विषयक वर्णन मिलता है। आचार्य[३] का मत है कि जिस ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र के विषयों का वर्णन हो, उसे संहिता कहते हैं।[४] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ज्योतिषशास्त्र के अन्य (संहितातिरिक्त) स्कन्धों का जिस स्कन्ध में अन्तर्भाव हो जाता है उसे संहिता स्कन्ध कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने भी ज्योतिषशास्त्र के तीन विभाग किये हैं।[५] बृहत्संहिता के द्वितीय अध्याय में आचार्य ने लिखा है कि

१- ताजिक नीलकण्ठी भूमिका, पृ० ३

२- शंकरबालकृष्ण दीक्षित - भारतीय ज्योतिष , पृ० ६११।

३- आचार्य शब्द से सर्वत्र वराहमिहिर का संकेत किया गया है।

४- बृहत्संहिता १।६

५- सिद्धान्तसंहिताहोरा रूपस्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिषशास्त्रमकल्मषम्।।
(नारद संहिता १।५)

संहिता का ज्ञान रखने वाला दैव (भाग्य पूर्व कर्मादि) का चिन्तक होता है । `संहितापारगश्च दैवचिन्तको भवति` इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि संहिता स्कन्ध अन्य स्कन्धों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है ।

संहिता रचना की परम्परा अति प्राचीन है । वराहमिहिर के पहिले संहिताओं की रचना की जाती रही है । स्वयं आचार्य ने बृहत्संहिता में स्थान-स्थान पर इन संहिताओं का उल्लेख किया है । यद्यपि वराहमिहिर के पहिले ज्योतिषशास्त्र के अष्टादश प्रवर्तकों की संहिताओं का उल्लेख मिलता है ।[1] तथापि इन सभी आचार्यों की संहिताएं वर्तमान में अप्राप्य हैं । अभी तक मात्र कुछ संहिताएं ही प्रकाश में आयी हैं । उनमें भी अधिकांश अधूरी हैं । जो संहिताएं उपलब्ध भी हैं उनमें संहिता के सभी विषयों को सम्मिलित नहीं किया गया है । सम्भवत: एक पूर्ण संहिता की आवश्यकता को देखते हुए ही आचार्य वराहमिहिर ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को स्वीकार करते हुए[2] और स्थल-स्थल पर अपने नवीन मत को स्थापित करते हुए बृहत्संहिता की रचना की है । आचार्य ने अनेक स्थानों पर लिखा है कि अमुक ऋषि के कथनानुसार अमुक विषय का वर्णन कर रहा हूं । इस प्रकार उन्होंने गर्ग, पराशर, असित, देवल, वृद्धगर्ग, काश्यप, भृगु,[3] वशिष्ठ, बृहस्पति, मनु, मय, सारस्वत और ऋषिपुत्र आदि के नाम दिये हैं । इससे ज्ञात होता है कि उस समय इतनी संहिताएं उपलब्ध थीं । कुछ और भी रही होंगी, क्योंकि उन्होंने कहीं-कहीं `अन्यान् बहून्` लिखा है । टीकाकार ने टीका में इन सब संहिताओं के अतिरिक्त व्यास, भानुभट्ट, विष्णुगुप्त,

---

१- बृहत्संहिता - टीकाकार अच्युतानन्द झा की भूमिका, पृ० २

२- बृहत्संहिता १। ११ (२४। २-३) (११। १)

३- सारस्वत का नाम उदकार्गल प्रकरण में और मय का केवल वास्तु और तत्सदृश प्रकरणों में ही आया है ।

यवन, रोमक, सिद्धासन, नन्दी और नग्नजित् इत्यादिकों के तथा भद्रबाहुनामक ग्रन्थ के वचन दिये हैं । इनमें से कुछ ग्रन्थकार वराह से प्राचीन और कुछ अर्वाचीन होंगे । वास्तुप्रकरण में किरणाख्य तन्त्रावली और मय के वचन दिये हैं ।[१]

सुधाकर द्विवेदी के अनुसार 'बृहत्संहिता' की भट्टोत्पल विवृति ही हमें इस संहिता के व्यापक विषयों की विस्तृत जानकारी देती है । लेकिन अभी तक जितनी भी पाण्डुलिपियां प्राप्त हुई हैं वे सभी एक दूसरे से भिन्न और अपूर्ण लगती हैं ।[२] सबसे पहले डा० कर्न ने १८६४ ई० में इसका अंग्रेजी में अनुवाद करके पश्चिम के संस्कृत विद्वानों के समक्ष रखा ।[२] डा० बी० थीबो ने भट्टोत्पली टीका की ६ पाण्डुलिपियां प्राप्त की । परन्तु पण्डित सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि ये सभी अशुद्धियों से भरी थीं, जिन्हें बाद में शुद्ध कर प्रकाशित किया गया।[३]

बृहत्संहिता के अतिरिक्त आचार्य वराहमिहिर ने समाससंहिता नामक ग्रन्थ भी लिखा है । किन्तु समास संहिता सम्प्रति उपलब्ध नहीं है । आज ही नहीं सम्भव है कि समास-संहिता भटोत्पल के समय के पश्चात् लुप्तप्राय हो गयी, क्योंकि पं० सुधाकर द्विवेदी ने भी लिखा है कि 'ऐसा सुना है समाससंहिता काशी में है परन्तु हमें आजतक देखने को नहीं मिली ।[४] पं० अवधविहारी त्रिपाठी के अनुसार समास संहिता मुद्रित अथवा अमुद्रित किसी भी रूप में हमारे दृष्टिपथ में नहीं आयी ।[५] अच्युतानन्द झा और कतिपय अन्य विद्वानों ने बृहत्संहिता की अपनी टीका में समाससंहिता के कथन को कहीं-कहीं प्रमाणरूप में उल्लेख किया है।

१- शंकरबालकृष्णदीक्षित - भारतीय ज्योतिष, पृ० ६१२-१३

२- बृहत्संहिता टीका पं० अवधविहारी त्रिपाठी ; भूमिका सुधाकर द्विवेदी, पृ० २१ ।

३- वही, पृ० २१ ।

४- गणकतरङ्गिणी - पृ० १३

५- बृहत्संहिता की भूमिका, पृ० १७

ऐसा प्रतीत होता है कि समाससंहिता के कथनों को टीकाकारों ने भट्टोत्पल की टीका से ही उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समाससंहिता की रचना आचार्य ने अवश्य की थी। सम्भव है कि जैसे आचार्य ने बृहज्जातक का संक्षेप लघु जातक में, बृहद्योगयात्रा का संक्षेप योगयात्रा में बृहद्विवाह पटल का संक्षेप विवाहपटल में किया है, ठीक उसी प्रकार से बृहत्संहिता का संक्षिप्तरूप समाससंहिता भी हो।

संहिता की व्याख्या करते हुए आचार्य ने लिखा है कि 'सूर्य आदि ग्रहों के सञ्चार, उस सञ्चार में होने वाले ग्रहों का स्वभाव, विकार प्रमाण(बिम्ब का परिमाण), वर्ण किरण, द्युति (किरणकान्ति), संस्थान, अस्त, उदय, मार्ग, मार्गान्तर, वक्र, अनुवक्र, नक्षत्रों के साथ ग्रह का समागम, चार, इनके फल, नक्षत्र विभाग द्वारा बने हुए कूर्म चक्र से देशों का शुभाशुभ फल, अगस्त्य मुनि का सञ्चार, सप्तर्षियों के सञ्चार, ग्रहों की भक्ति, नक्षत्रों के व्यूह, ग्रहशृङ्गाटक, ग्रहयुद्ध, ग्रहसमागम, ग्रह के वर्षपति होने पर उसका फल, गर्भलक्षण, रोहिणी योग, स्वाती योग, आषाढी योग, सद्योवर्षण, कुसुमलता का लक्षण, वृक्षों के फल फूल की उत्पत्ति के द्वारा संसारिक शुभाशुभ का ज्ञान, परिधि, परिवेष, परिघ (सूर्य के उदय अस्त काल में तिर्यक्स्थितमेघरेखा का लक्षण), वायु, उल्कापात, दिग्दाह का लक्षण, भूकम्प, सन्ध्या की लालिमा, गन्धर्व नगर का लक्षण, धूलि का लक्षण, निर्घात लक्षण अर्घकाण्ड, अन्न की उत्पत्ति, इन्द्रध्वज और इन्द्रधनुष का लक्षण, वास्तुविद्या, अङ्गविद्या, वायसविद्या, अन्तरचक्र, मृगचक्र, अश्वचक्र, वातचक्र, प्रासाद लक्षण, प्रतिमा लक्षण, प्रतिमाप्रतिष्ठा, वृक्षायुर्वेद, उदकार्गल, नीराजन, खञ्जनलक्षण, उत्पातों की शान्ति, मयूर चित्रक, घृत, कम्बल, खड्ग, पट्ट, मुर्गा, कूर्म, गौ, अजा, कुत्ता, अश्व, हस्ति, पुरुष, स्त्री, अन्तःपुर की चिन्ता, पिटक, मोती, वस्त्रच्छेद, चामर, दण्ड, शय्या, आसन, इनका लक्षण, रत्नपरीक्षा, दीप लक्षण, दन्तकाष्ठ आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का लक्षण, संसार के प्रत्येक पुरुष और राजाओं में पूर्वोक्त प्रत्येक लक्षण का विचार एकाग्र-

चित्त होकर दैवज्ञ को करना चाहिए ।[१]

बृहत्संहिता में आचार्य वराहमिहिर ने उपर्युक्त सभी लक्षणों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है । संहिता के १०६ अध्यायों में प्रथम दो अध्याय उपनयनाध्याय तथा साम्वत्सरसूत्राध्याय में विषय की भूमिका तथा ज्योतिषियों के गुणों एवं दोषों का वर्णन किया है । आचार्य के विचार से दैवज्ञ को सुदर्शन तथा ज्योतिषशास्त्र के विविध पक्षों का गहन ज्ञाता भी होना चाहिए ।उन्होंने राजाओं के दरबार में दैवज्ञों के नियुक्ति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए अनेकशः वचन कहे हैं । लिखा है कि जय की इच्छा रखने वाले राजा को होरा, गणित, संहिता इन तीनों स्कन्धों को अच्छी तरह जानने वाले दैवज्ञों की पूजा करनी चाहिए और उनकी आज्ञा माननी चाहिए ।[२]

उपर्युक्त दो अध्यायों के उपरान्त २० अध्यायपर्यन्त आचार्य ने नवग्रहों के चार अगस्त्यचार, सप्तर्षिचार तथा उनका मानवजीवन एवं राष्ट्र पर प्रभाव का वर्णन किया है । सूर्यचार में सूर्य की उत्तरायण एवं दक्षिणायन गतियों का वर्णन और उसमें होने वाले व्युत्क्रम के प्रभाव का वर्णन किया है ।[३] सूर्यचाराध्याय के प्रथम श्लोक से यह परिलक्षित होता है कि वराहमिहिर के पूर्व सूर्य के उत्तरायण एवं दक्षिणायन गतियों की प्रवृत्ति उनके समय की प्रवृत्ति से इतर थी ।[४] आचार्य ने सूर्यमण्डल के प्रभाहीन होने के अशुभ फलों का भी वर्णन किया है । वे राहु के तैंतिस पुत्र स्वीकार करते हैं तथा उन्हें केतु की संज्ञा प्रदान

१- बृहत्संहिता, पृ० ११

२- यस्तुसम्यग्विजानाति होरागणितसंहिता: ।
अभ्यर्च्य: स नरेन्द्रेण स्वीकर्तव्यो जयैषिणा ।।
- बृहत्संहिता २। ३६

३- बृहत्संहिता ३।४, ५ श्लोक

४- इसी श्लोक के आधार पर अनेकों ने उनके काल का स्पष्ट संकेत किया है । जिसका विस्तृत उल्लेख मैंने पहिले अध्याय में किया है ।

करते हैं । केतुओं के वर्ण, आकृति, स्थान के आधार पर राजाओं, प्रजाओं एवं देशों की आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित फल कहा है । आचार्य का मत है कि विभिन्न आकृति के केतु दुर्भिक्ष, युद्ध, अराजकता आदि अशुभ परिणामों के सूचक हैं । सूर्यमण्डल के विभिन्न वर्णों के आधार पर विभिन्न फलों का संकेत किया है । जैसे सूर्यमण्डल रूखा या सफेद हो तो ब्राह्मणों का, लालवर्ण हो तो क्षत्रियों का, पीतवर्ण का हो तो वैश्यों का और कृष्णवर्ण का हो तो शूद्रों का नाश करता है ।[१] सारांश यह कि सूर्य का प्रभामण्डल यदि किन्हीं कारणों से कलुषित या कान्तिहीन होता है तो वह पृथिवीवासियों के लिए अशुभ और यदि वह स्वच्छ, अखण्डित और निर्विकार रहता है तो संसार का मङ्गल करने वाला होता है ।

--

१- बृहत्संहिता ३।२४-२८

चन्द्रचार के वर्णन प्रसंग में आचार्य ने चन्द्रमा की कलाओं, विभिन्न नक्षत्रों में उसके गमन और संयोग का प्रभाव, चन्द्रमा के शृङ्गों के विभिन्न रूपों और उससे बनी आकृति का प्रभाव, बृहस्पति मङ्गल आदि ग्रहों से वेधित चन्द्रमा के प्रभाव का वर्णन किया है । चन्द्रमा के प्रकाश एवं उसकी कलाओं का कारण सूर्य के प्रकाश को बताया है ।[१] विभिन्न नक्षत्रों में गमन और युति के फलों का विस्तृत वर्णन तथा चन्द्रमा के शृङ्गों के विभिन्न रूपों से बनी आकृति को भी वे विभिन्न फलों का संकेत मानते हैं । टीकाकारों के अनुसार उनके इस कथन की पुष्टि वृद्धगर्ग के कथनों से भी होती है । प्राय: इस कथन की पुष्टि के समर्थन में टीकाकारों ने वृद्धगर्ग के कथन को उद्धृत किया है । इसी अध्याय में आचार्य ने चन्द्र के स्वरूप एवं फल को भी कहा है । आचार्य ने लिखा है कि चन्द्रस्वरूप या शृङ्ग जब विभिन्न ग्रहों से वेधित होता है तो उसका पृथिवी पर विविध परिणाम देखने को मिलते हैं । मंगल, बृहस्पति, शुक्र, शनि, केतु से वेधित चन्द्रमा मृत्यु, विनाश, युद्ध और पीड़ा का द्योतक होता है । सिर्फ बुध से वेधित चन्द्रमा पश्चिमी देशों के लिए लाभकर किन्तु मगध, मथुरा और वेणा नदी के तट पर स्थित देशों के लिए पीड़ा कारक होता है ।[२]

राहुचाराध्याय बृहत्संहिता का पांचवा अध्याय है । इसमें

१- बृहत्संहिता ४ । १-४

२- वही ४ । २१-२७

आचार्य ने राहु के स्वरूप का वर्णन, ग्रहण का कारण तथा अनेक प्रकार के ग्रहणों का मानवजीवन पर शुभाशुभ प्रभाव का विशद वर्णन किया है। यद्यपि आचार्य ने अपने पूर्व के आचार्यों के कथन को अपने तर्कों और उनके समर्थन में ठोस खगोलीय प्रमाण देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राहु कोई ठोस ग्रह न होकर आकाश में खगोलीय-स्थितियां हैं और सूर्य तथा चन्द्रग्रहण राहु के कारण नहीं अपितु इन खगोलीय स्थितियों के कारण होते हैं तथापि उन्होंने श्रुति स्मृति और पुराणों के कथनों का समादर करते हुए राहुकृत ग्रहणों का और उनके विविध प्रभावों का वर्णन किया है।

वराहमिहिर के पहिले यह मत प्रचलित था कि राहु नामक राक्षस ने मस्तक कट जाने पर भी अमृत पी चुकने के कारण प्राणनाश नहीं वरन् ग्रहत्व प्राप्त कर लिया, और वह श्यामवर्ण होने के कारण आकाश में दिखायी नहीं देता। यह भी मत था कि राहु की आकृति सर्पाकार है[१]। आचार्य ने इन पूर्वकथित मतों में दोष सिद्ध करते हुए कहा है कि यदि राहु मूर्तिमान् राशि में चलने वाला, शिर और बिम्ब वाला

१- बृहत्संहिता राहुचाराध्याय १-३

बृहत्संहिता की विभिन्न टीकाओं में भगवान् गर्ग, वीरभद्र, वशिष्ठ, देवल आदि आचार्यों के वचनों को उद्धृत करते हुए ऐसा बताया गया है।

होता तो निश्चित गतिवाला होकर भगणार्ध पर स्थित सूर्य और चन्द्र को कैसे ग्रसता ? अर्थात् कभी नहीं ग्रस सकता है।[1] वे पुन: कहते हैं कि यदि राहु अनिश्चित गति वाला होता तो गणित से उसका ज्ञान कैसे हो सकता था ? और यदि मुख, पुच्छ, विभक्ताङ्ग वाला है तो अपने से दूसरी, तीसरी, चौथी या पांचवी राशि पर स्थित रवि चन्द्र को क्यों नहीं ग्रस लेता ?[2] यदि राहु सर्पाकार होता तो मुख या पुच्छ से ६ राशि के अन्तर पर स्थित रवि चन्द्र को ग्रसते समय वह अपने मुख और पुंछ के बीच स्थित आधे भगण को भी ढक लेता।[3] इसी तरह उन्होंने दो राहु कहने वालों के मतों में भी दोष सिद्ध किया है तथा अपना मत प्रतिपादित करते हुए कहा है कि चन्द्रग्रहण में चन्द्रमा भूच्छाया में और सूर्य ग्रहण में वह सूर्यबिम्ब में प्रविष्ट होता है। आचार्य का यह सिद्धान्त ग्रहणों के आधुनिक सिद्धान्तों से पूर्णत: साम्य रखता है।[4] वराह-

----

१- बृहत्संहिता ५। ४

२- वही ५ । ५

३- वही ५ । ६

४- आधुनिक खगोलशास्त्रियों के अनुसार सूर्यग्रहण सूर्य और पृथवी के बीच चन्द्रमा के आने और चन्द्रबिम्ब द्वारा सूर्य बिम्ब को ढक लेने के कारण होता है। इसी तरह जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथवी आ जाती है और पृथवी की छाया के मार्ग से चन्द्रमा गमन करता है तो चन्द्र ग्रहण की स्थिति होती है। नियमत: हर पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण और हर अमावस्या को सूर्यग्रहण पड़ना चाहिए। किन्तु ऐसा इसलिए नहीं होता क्योंकि ग्रहण की स्थिति के लिए सूर्य चन्द्रमा और पृथवी को एक ही तल में होना चाहिए।

मिहिर यह भी बताने में समर्थ हैं कि विभिन्न देशों में ये ग्रहण भिन्न-भिन्न रूप से क्यों दिखायी देते हैं। अपने समर्थन में वे उन आचार्यों को उद्धृत करते हैं, जो उनके विचार के समकक्ष हैं। यहाँ पर आचार्य ने गर्गादि आचार्यों के उन मतों का भी खण्डन किया है। जिनमें बताया गया है कि ग्रहण के कारण उत्पात हैं। इसके पश्चात् लगभग ६० श्लोक पर्यन्त आचार्य ने ग्रहणों और उनकी विभिन्न स्थितियों का फल बताया है। वे यह कहते हैं कि एक ही मास में यदि सूर्य चन्द्र दोनों ग्रहण पड़ें तो अपनी सेनाओं में हलचल मच जाने से या शस्त्रादि के प्रहार से राजाओं का नाश होता है।[१]

आचार्य वराहमिहिर का यह कथन महाभारत में वर्णित १ मास में दो ग्रहणों से घटित होने वाले फल से मेल रखता है। महाभारत के भीष्म पर्व में (युद्ध आरम्भ के पूर्व) कहा गया है कि एक मास में दो (सूर्य, चन्द्र) ग्रहण महाअनिष्ट का संकेत कर रहे हैं।[२] राहुचाराध्याय में अयन और दिशा का ग्रहण का फल विभिन्न राशि में स्थित सूर्य,चन्द्र के ग्रहण का फल, सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के समय उनके बिम्बों के ग्रास के दश रूपों का फल, ग्रहण के समय सूर्य को निकट आये हुए (अस्त) ग्रहों का फल,विभिन्न मासों में ग्रहणों का फल, सूर्य,चन्द्र के दश मोक्षों का पृथिवीवासियों तथा जीवों पर उनके प्रभाव का वर्णन किया है।

१- बृहत्संहिता ५। ६

२- महाभारत भीष्म पर्व ३। ३२

भौमचार वर्णन में आचार्य ने मङ्गल की विभिन्न नक्षत्रों में स्थिति के आधार पर उसके पांच मुखों का और जगत पर उसके प्रभाव का वर्णन करने के साथ ही योग और सञ्चारवश अर्थात् गोचरवश विभिन्न नक्षत्रों में मङ्गल की स्थिति का फल वर्णन किया है । प्राय: सभी स्थितियों में मंगल को रोगकारक, विनाशक और प्राकृतिक आपदा कारक बताया है, लेकिन आचार्य का यह भी कथन है कि श्रवण, मघा, पुनर्वसु, मूल, हस्त, पूर्वाभाद्रपद, अश्विनी, विशाखा और रोहिणी नक्षत्र में मङ्गल का सञ्चार तथा उदय उत्तम फलदायक है।[1] प्राचीन आचार्यों शास्त्रकारों ने मङ्गल को रक्तवर्ण-वाला कहा है, लेकिन आचार्य वराहमिहिर ने इसे निर्मल अर्थात् स्वच्छ, किंशुक और अशोक पुष्प के समान वर्णवाला तथा ताम्रवर्ण वाला बताया है ।[2]

बुधचाराध्याय में बुध के उदय, विभिन्न नक्षत्रों में उसकी स्थिति नक्षत्रवश उसकी सात गतियों के फल, मास विशेष में उदय एवं अस्त का फल, बिम्बलक्षण का फल कहा है । आचार्य के मतानुसार बुध का उदय हमेशा उत्पातयुक्त होता है । वह चाहे जिस नक्षत्र या राशि में उदय हो अग्नि, जल, वायु का उत्पात तथा अन्न की महंगी सस्ती करने वाला होता है ।[3]

१- बृहत्संहिता ६ । १२

२- वही ६ । १३

३- वही ७ । १

वर्ण के आधार पर आचार्य ने बताया है कि स्वर्ण, तोता के समान रंग-वाला, धान्य और मरकत मणि के समान निर्मल तथा विस्तीर्ण बुध दिखायी दे तो वह संसार का हित करने वाला होता है।[१]

बृहस्पतिचार में आचार्य ने नक्षत्र विशेष में बृहस्पति के उदय के आधार पर द्वादशमासों के नाम और उनका फल, नक्षत्रों में सञ्चार-वश गुरु का विशेष फल, बृहस्पति के वर्ण का फल, षष्ट्यब्दानयनप्रकार, १२ युगों के अधिपति तथा प्रत्येक युगों के अलग-अलग सम्वत्सरों के नाम और फल तथा बृहस्पति के बिम्ब का लक्षण एवं फल बताया है।[२]

शुक्रचाराध्याय में शुक्र की नव वीथियों, ३ मार्ग और ६ मण्डलों का वर्णन है। आचार्य वराहमिहिर के इस सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए अपना संशोधन प्रस्तुत किया है। लेकिन वे अन्य ऋषियों के कथन में सन्देह नहीं करते।[३] इसके उपरान्त विभिन्न वीथियों में स्थित शुक्र का फल, वीथियों का विशेष फल, शुक्र के ६ मण्डलों के लक्षण, दिन में दिखायी पड़ने वाले शुक्र का फल, विभिन्न नक्षत्रों के भेदन का फल, परस्पर सप्तमराशि में स्थित गुरु एवं शुक्र का फल, शुक्र के आगे

१- बृहत्संहिता ७। २०

२- वही बृहस्पतिचाराध्याय

३- ज्योतिषमागमशास्त्रं विप्रतिपत्तौ न योग्यमस्माकम्।
स्वयमेव विकल्पयितुं किन्तु बहूनां मतं वक्ष्ये ।।
(बृहत्संहिता ६। ७)

स्थित विभिन्न ग्रहों का फल तथा शुक्र के वर्ण का लक्षण एवं फल बताया है ।[१]

शनिचाराध्याय में विभिन्न नक्षत्रों में स्थित शनि का फल बताया है । शनि के चार के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन ऋषियों को भी यही मान्यता थी कि शनि पृथ्वी के वानस्पतिक और जीव जगत को सर्वाधिक प्रभावित करता है, क्योंकि इस अध्याय के २१ श्लोकों में शनि की विभिन्न स्थितियों से जितना अधिक, धान्यों, शिल्पकारों, जीवों और राज्यों के प्रभावित होने का वर्णन है उतना किसी अन्य ग्रह के चार में नहीं मिलता । ज्योतिषशास्त्र में ऐसी मान्यता है कि ग्रह यदि अपने मूलरंग का दिखायी दे तो वह शुभ-कारक होता है, लेकिन आचार्य के कथनानुसार शनि यदि कृष्णवर्ण का होता है तो शूद्रों का नाश करता है ।[२] जबकि ज्योतिषशास्त्र का सर्व-सम्मत मत है कि शनि का वर्ण कृष्ण और जाति शूद्र है ।

केतुचाराध्याय के वर्णन में आचार्य ने केतुओं के शुभाशुभ-लक्षण, विभिन्न नक्षत्रों,ग्रहों की युति अथवा स्पर्श, उदयास्त, वर्ण, आकृति आदि के आधार पर पृथ्वी पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या की है । इस अध्याय का केतु राहु के तैंतीस पुत्रों से भिन्न है । क्योंकि आदित्यचाराध्याय का वर्णित केतु वास्तव में फलित ज्योतिष के वे

१- बृहत्संहिता शुक्रचाराध्याय

२- वही १० । २१

राहु केतु हैं जिन्हें काल्पनिक, स्वरूप प्रदान किया गया है।[१] आदित्य-चाराध्याय में राहु के पुत्र ३३ संज्ञक केतुओं का वर्णन है, जबकि केतुचाराध्याय में आचार्य ने जिन केतुओं का वर्णन किया है, वे प्रत्यक्षत: आधुनिक धूमकेतुओं के वर्णन हैं। प्राचीन ऋषि केतुओं के उत्पत्ति और उनके उदयास्त की गणना करने में प्रयत्नशील थे। लेकिन ऐसा लगता है कि वे उनकी सही गणना नहीं कर पाते थे। क्योंकि वराहमिहिर ने भी स्वीकार किया है कि गणित के द्वारा केतु का उदय या अस्त नहीं जाना जा सकता है।[२] आचार्य वराहमिहिर केतुओं के गणित के पीछे नहीं पड़ते। अत: इस अध्याय में उन्होंने मात्र केतुओं के प्रभाव का ही वर्णन किया है।

आचार्य ने केतुओं (धूमकेतुओं) का अत्यधिक गहन अध्ययन किया था। और उनके विभिन्न वर्णों आकृतियों नक्षत्रों से उनके स्पर्श और विस्तार, विभिन्न दिशाओं में दीखने वाले केतुओं आदि का मानव

१- आधुनिक खगोलशास्त्र के अनुसार पृथवी के परिभ्रमण का मार्ग और चन्द्रमा के मार्ग जिन दो बिन्दुओं पर एक दूसरे को काटते हैं वे राहु और केतु कहे जाते हैं। यह बिन्दु घड़ी की विपरीत दिशा में आगे बढ़ता है।

२- बृहत्संहिता ११। २
वास्तव में प्राचीन ऋषि आकाश में दिखायी देने वाले धूमकेतुओं की गणना करने का प्रयास करते थे। आधुनिक खगोलशास्त्र से यह सिद्ध हो चुका है कि आकाश में दिखायी देने वाला हर धूमकेतु अलग-अलग निश्चित समय पर पुन: दिखायी देता है। लगता है कि हमारे आचार्य इस तथ्य को नहीं समझ पाये थे। इसी से उनका गणित केतु का उदय अस्त नहीं निर्धारित कर पाता था। इसी से वे केतुओं की संख्या भी निश्चित नहीं कर सके थे।

लोकन और पृथवी पर उसके प्रभाव का वर्णन किया है । वराहमिहिर की मान्यता है कि केतु जितने दिन दिखायी दें, अस्त होने के ४५ दिन बाद से उतने मास तक, और जितने मास तक दिखायी दें, अस्त होने के ४५ दिन बाद से उतने वर्ष तक फल देता है ।[१] इसका आशय यह हुआ कि वे अल्पक्षण तक दीखने वाले धूमकेतु को अल्प प्रभावकारी और दीर्घ समय तक दृश्य होने वाले धूमकेतु को दीर्घप्रभावकारी मानते थे । प्राय: धूमकेतु अशुभ-फलदायक निरूपित किया जाता है । किन्तु वराहमिहिर शुभफलवाले केतु का भी लक्षण वर्णन करते हैं । उनके मतानुसार यदि छोटा, पतला, स्निग्ध, सरल थोड़े ही दिनों में अदृश्य, श्वेत और उदयकाल में वृष्टिवाला केतु दृष्टिगत हो तो वह सुभिक्ष और सुख देने वाला होता है । इसके विपरीत लक्षण वाले केतु अशुभ फलदायक होते हैं ।[२] लगभग ५२ श्लोकों में आचार्य ने सुभिक्ष धन-धान्य वृद्धि करने वाले, राजाओं को सुख देने वाले, शुभ केतुओं के लक्षणों के साथ ही दुर्भिक्ष, युद्धभय, महामारी फैलाने वाले, आदि अशुभ फल देने वाले, धूमकेतुओं के लक्षण का विस्तृत वर्णन किया है। यह अध्याय आचार्य के धूमकेतु सम्बन्धी ज्ञान को आधुनिक खगोलशास्त्रियों के ज्ञान से कहीं श्रेष्ठ सिद्ध करता है ।

अगस्त्यचाराध्याय में आचार्य ने अगस्त्य[३] ऋषि के पौराणिक

१- बृहत्संहिता ११ । ७

२- वही ११ । ८, ६

३- अगं पर्वतं स्तम्भयति इति अगस्त्य: अर्थात् जो पर्वत को स्तम्भित करे वह अगस्त्य है ।

महत्व का प्रतिपादन करते हुए वर्षा के उपरान्त दक्षिण आकाश में उदय होने वाले अगस्त्य तारे के महत्व का वर्णन किया है । आरम्भ के श्लोकों में आचार्य ने अगस्त्यऋषि के पौराणिक आख्यानों को सन्दर्भित किया है । तथा वर्षा ऋतु के उपरान्त अगस्त्य के उदय होने, वर्षाजल के निर्मल होने का वर्णन किया है । आचार्य ने अगस्त्य द्वारा समुद्र शोषण के उपरान्त, विभिन्न मणियों, रत्नों, प्रवालों, मुक्ताओं, जलजीवों के शेष रह जाने पर समुद्र के सौन्दर्य का वर्णन किया है । समुद्रवर्णन के पश्चात् आचार्य ने विन्ध्य पर्वत का मनोरम वर्णन किया है । अगस्त्य तारा उस समय उदित होता है जब सूर्य कन्याराशि के २३ अंश पर पहुंच जाता है ।[१] हस्त नक्षत्र के आरम्भ में ही वर्षाकाल का अन्त माना जाता है तथा वर्षा का पङ्किल जल स्वच्छ होने लगता है । इसी से अगस्त्योदय जल को निर्मल करने वाला कहा है । अगस्त्य पूजन (अर्घ्यादि) को वराहमिहिर ने रोग तथा शत्रुहन्ता बताया है । अन्तिम श्लोकों में आचार्य अगस्त्य के वर्ण का लक्षण, बताते हुए उनके उदय और अस्त का खगोलशास्त्रीय मत बताया है । सुवर्ण एवं स्फटिक के

१- बृहत्संहिता अगस्त्यचाराध्याय । १५
वराहमिहिर के उपर्युक्त श्लोक से विदित होता है कि उनको यह जानकारी थी कि अगस्त्य विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग उदय होते हैं । जैसा कि समास संहिता को उद्धृत करते हुए अच्युतानन्द झा ने बताया है कि अवन्ति में अगस्त्य उस समय दीखता है जब सूर्य कन्या के सातवें अंश पर पहुंचता है ।

समान वर्ण वाले अगस्त्यधनधान्यदाता और रोगहर्त्ता बताए गये हैं । जबकि रुक्ष, कपिल, लोहित, धूम्रवर्ण वाले अगस्त्य रोग, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष और युद्ध देने वाले बताए गये हैं ।[१]

सप्तर्षिचाराध्याय में आचार्य ने ध्रुव के वश सप्तर्षियों की स्थिति, सप्तर्षियों के नाम, वशिष्ठ में आश्रित अरुन्धती के वर्णनोपरान्त पीड़ित एवं मुदित सप्तर्षियों के अलग-अलग प्रभावों का वर्णन है ।[२] इस अध्याय का तीसरा श्लोक अधिक महत्वपूर्ण है । क्योंकि इसी से ऐतिहासिक घटनाओं का तथा वराहमिहिर का भी कालबोध होता है । इसी श्लोक के आधार पर विद्वानों ने आचार्य वराहमिहिर का काल निश्चित करने का प्रयास किया है ।[३] इस श्लोक में बताया गया है कि जब युधिष्ठिर पृथ्वी पर राज्य करते थे तो उस समय सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे । ऐसा ही कथन श्रीमद्भागवत पुराण के बारहवें स्कन्ध में भी परीक्षित के राज्य सम्बन्धी-वर्णन में शुकदेव जी के द्वारा कहा गया है ।[४] मघा नक्षत्र में सप्तर्षियों के रहने का आशय यह है कि पूर्व दिशा में मघा नक्षत्र के उदय होने से पूर्वोत्तर दिशा में सप्तर्षिमण्डल स्पष्ट दिखायी देता है । एक नक्षत्र में सप्तर्षियों की स्थिति एक सौ वर्ष रहती है ।[५] श्रीमद्भागवत के आधार पर भी सप्त-

---

१- बृहत्संहिता अगस्त्यचाराध्याय २०, २१, २२

२- वही सप्तर्षिचाराध्याय ८, ९, १०

३- देखें इसी शोधप्रबन्ध का प्रथम अध्याय ।

४- श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध १२, अध्याय २

५- बृहत्संहिता १३ । ४

र्षियों की स्थिति एक नक्षत्र में १ सौ वर्ष पर्यन्त रहती है ।[१]

कूर्मविभागाध्याय में आचार्य ने अपने समय के भारत के भूगोल का वर्णन किया है । कृत्तिकादि तीन-तीन नक्षत्रों के एक-एक वर्ग द्वारा सुमेरु के दक्षिण भाग में स्थित भारतवर्ष को मध्यस्थित कल्पना करके तथा अन्य देशों (वराहमिहिर का देश से तात्पर्य आधुनिक प्रदेश या छोटे-छोटे नरेशों द्वारा शासित राज्यों से है ।) को पूर्वादि क्रम से रखकर नव भाग किये हैं । कृत्तिका आदि नक्षत्रों के वर्ग में भारतवर्ष स्थित बताया गया है । इसी तरह पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान कोण में स्थित देशों का वर्णन है ।[२] अन्तिम श्लोकों में बताया है कि आग्नेय आदि ६ वर्ग यदि पापग्रह से पीड़ित हों तो क्रमश: पाञ्चाल, मगध, कलिङ्ग, अवन्ति, आनर्त, सिन्धु, सौवीर, हारहौर, मद्रसौर, कौलिन्द देश के राजाओं का नाश होता है ।[३]

नक्षत्रव्यूहाध्याय के वर्णन में आचार्य ने सभी चराचर स्थावर जङ्गम, वनस्पतियों, जीवों तथा राजाप्रजादि का २७ नक्षत्रों में विभाजन किया है । आचार्य ने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, व्यवसायियों,क्रूरकर्मियों, सेवकों तथा चाण्डालों के स्वामी आदि नक्षत्रों का विभाजन भी किया है ।[४]

१- श्रीमद्भागवतपुराण १२ । २

२- बृहत्संहिता १४ । ५ से ३१ श्लोक ।

३- वही १४ । ३२, ३३

४- वही १५ । २८, २६, ३० ।

अन्तिम दो श्लोकों में पीड़ित नक्षत्रों और उनके प्रभाव का वर्णन है ।

जिस तरह नक्षत्र व्यूहाध्याय में २७ नक्षत्रों के आधार पर पृथवी पर पाये जाने वाले सभी वस्तुओं का वर्णन है उसी तरह ग्रहभक्ति-योगाध्याय में नव ग्रहों के गुणों के आधार पर पृथवी के देशों, विभिन्न व्यवसाय करने वाले लोगों,नदियों, वनस्पतियों, धातुओं और गुणों(सत्व, रज, तम) वाले लोगों का विभाजन किया गया है । अध्याय के अन्त में इस विभाजन का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि ये ग्रह उदय समय में निर्मल, स्वभावस्थित, अहत (उल्कादि से अप्रभावित) शुभग्रह के सानिध्य में होते हैं तो ये ग्रह जिनके स्वामी होते हैं उनके लिए शुभ करने वाले और इसके विपरीत होने पर रोग, उत्पात, अनावृष्टि और राजाओं का नाश करने वाले होते हैं ।[१]

ग्रहयुद्धाध्याय में आकाश में ग्रहों की परस्पर स्थिति और आसन्नता के आधार पर चार प्रकार के ग्रहयुद्धों का वर्णन है । युद्धों में पराजित तथा विजयी ग्रहों का जीवों या पृथवी पर प्रभाव बताया गया है । विजयी ग्रह अपने वर्ग को विजय कराने वाले, पराजित तथा पीड़ित ग्रह अपने वर्ग का नाश एवं पराजय कराने वाले बताये गये हैं । विजयी तथा पराजित ग्रहों का लक्षण तथा विभिन्न ग्रहों से पराजित मंगल,बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि का फल बताया गया है ।

शशिग्रहसमागमाध्याय में विभिन्न ग्रहों के निकटवर्ती होकर

१- बृहत्संहिता १६।४०, ४१, ४२ ।

चन्द्रमा के उत्तर या दक्षिण तरफ होकर गमन करने का फल बताया गया है । उत्तरदिशा में होकर गमन करने पर चन्द्रमा राजाओं को सुख तथा दक्षिण दिशा में होकर गमन करने से राजाओं को कष्ट प्रदान करता है । इसमें ग्रहों के उत्तरगत चन्द्र का शुभ फल ही बताया गया है और अन्तिम श्लोक में निर्देशित किया गया है कि दक्षिण गत चन्द्र के फल, उत्तरगत चन्द्र के विपरीत होते हैं ।[1] चन्द्रमा के साथ ग्रहों, नक्षत्रों के रहने से समागम सूर्य के साथ रहने से अस्त एवं कुजादि के साथ रहने से युद्ध कहलाते हैं ।

ग्रहवर्षफलाध्याय में सूर्य, चन्द्रमा, मंगलादि ७ ग्रहों के वर्षफल का वर्णन है । सूर्य के वर्षाधिप होने पर बल का नाश, भयंकर ताप, युद्ध गौ, तपस्विनी को दुःखादि प्राप्त होते हैं ।[2] इसी तरह मङ्गल और शनि को भी रोग, युद्ध और पीड़ाकारक बताया गया है । इसके विपरीत चन्द्रमा, बुध, बृहस्पति एवं शुक्र धन धान्य देने वाले, प्रीति बढ़ाने वाले, व्यवसायियों का हित करने वाले, पर्याप्त वृष्टि वाले, शत्रुओं का नाश करने वाले बताये गये हैं । अन्तिम श्लोक में बताया गया है कि जो ग्रह सूक्ष्म, अस्पष्ट किरणवाला, नीचस्थानस्थित, या ग्रहयुद्ध में पराजित हो वह सम्पूर्ण फल देने वाला नहीं होता है । अशुभ वर्ष में रवि, मंगल और शनि के अशुभ-

---

१- बृहत्संहिता १८ । ८

२- वही १६ । १, २, ३

मास फल की वृद्धि होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि अशुभवर्ष के वर्ष में अशुभग्रह का मासाधिपतित्व होने पर अत्यन्त अशुभफल होता है । तथा वर्षाधिप, मासाधिप दोनों शुभग्रह हों तो शुभफल की वृद्धि और एक शुभ दूसरा अशुभ हो तो अल्प फल वाला होता है ।

ग्रहशृङ्गाटकाध्याय में ग्रहों की स्थिति, सूर्यादि के उदयास्त, वश दिशाफल, ग्रहों की आकृति के अनुसार फल, आकाश के विभागवश शुभाशुभ फल, नक्षत्रस्थ ग्रहों का फल, ग्रहों के ६ योग (ग्रहसंवर्त, ग्रहसमागम, ग्रहसम्मोह, ग्रहसमाज, ग्रहसन्निपात तथा ग्रहकोश और इन योगों का लक्षण तथा फल बताया गया है[१] ।

—

१- बृहत्संहिता २० । ५ से ६ श्लोक

आचार्य वराहमिहिर ने वर्षा एवं वायु सम्बन्धी विभिन्न संकेतों का वर्णन किया है । इन्हीं संकेतों के आधार पर आचार्य का कथन है कि सही लक्षणों को दृष्टिगत रखते हुए की गयी भविष्यवाणी कदापि मिथ्या नहीं होगी ।[१] वराहमिहिर ने अपने पूर्वाचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हुए यत्र तत्र उसका परिमार्जन तथा संशोधन करके अपना मत व्यक्त किया है । वर्षा से सम्बन्धित प्रथम अध्याय गर्भलक्षणाध्याय है । जिसमें गर्भ(मेघों के निर्माण का शुभारम्भ) के लक्षण, प्रसवकाल (वर्षाकाल) मेघ और वायु का लक्षण, गर्भसम्भव लक्षण, ऋतु के वश गर्भ के लक्षण, गर्भकालिक मेघों का लक्षण, गर्भकालिक नक्षत्रवश अधिक वृष्टि का योग, निमित्तों के वश वर्षा के प्रदेश, निमित्तयुत गर्भवश जल की संख्या आदि का वर्णन किया है ।

आचार्य का मत है कि चन्द्रमा के जिस नक्षत्र में स्थित होने से गर्भ स्थिति होती है, चन्द्र के वश १९५ वें दिन उसका प्रसव होता है ।[२] अर्थात् मेघ निर्माण तथा वर्षा के बीच लगभग ६ $\frac{१}{२}$ महीने का अन्तराल होता है । इस अध्याय में वर्षा के लिए शुभ एवं अशुभ लक्षणों, अतिवृष्टि,अनावृष्टि करने वाले बादलों के लक्षण, अनावृष्टि के लक्षणों, अतिवृष्टि वाले नक्षत्रों के वर्णन के साथ ही यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि किस तरह के गर्भ से कितनी मात्रा में जलवृष्टि होती है ।

गर्भधारणाध्याय में गर्भधारण के सामान्य एवं विशेष लक्षण

१- बृहत्संहिता २१ । ३

२- वही २१ । ७

बताये गये हैं, उनकी पुष्टि में वशिष्ठ के ५ श्लोक उद्धृत किये गये हैं[1]। आचार्य ने लिखा है कि ज्येष्ठ शुक्लपक्ष में स्वाती, विशाखा, अनुराधा एवं ज्येष्ठा में वृष्टि हो तो क्रम से श्रावणादि चार मासों में अवृष्टि होती है[2]।

प्रवर्षणाध्याय में वर्षा के परिमाण जानने के लिए संकेत दिये गये हैं। इस अध्याय के दूसरे श्लोक में जलमापन की विधि बताते हुए कहा गया है कि १ हांथ व्यास और १ हांथ गहरे वर्तुलाकार कुण्ड में ५० पल जल आता है जोकि एक आढक के बराबर होता है। और इस तरह के चार आढक से १ द्रोण जल बनता है[3]। वराहमिहिर का मत है कि पूर्वाषाढ आदि नक्षत्रों में फिर वृष्टि होती है[4]। किस नक्षत्र में वृष्टि होने से कितना जल गिरता है इसका भी उल्लेख आचार्य ने स्पष्ट किया है।

रोहिणियोगाध्याय में रोहिणी नक्षत्र से चन्द्र की युति के आधार पर तथा पताका से वायु परीक्षा, वायुपरीक्षा के आधार पर वृष्टि सम्बन्धी शुभाशुभ फल बताया गया है। चन्द्र रोहिणी योग के समय कतिपय शुभ योगों के लक्षणों का वर्णन मिलता है[5]। इसके उपरान्त वृष्टि एवं अनावृष्टि करने वाले मेघों का वर्णन, शुभ अशुभ मेघों का लक्षण, दिशाओं के

१- बृहत्संहिता २२ । १

२- वही २२ । २

३- वही २३ । २

४- वही २३ । ५

५- वही २४ । १३ से १७ श्लोक तक ।

त्रिभाग से मेघों का फल, कुम्भस्थापन से फल ज्ञान, रोहिणी के चतुर्दिक् विभिन्नस्थितियों में चन्द्रसमागम का फल, भेदित एवं आच्छादित रोहिणी के योगतारा का फल, पशुओं के वश शुभाशुभफल तथा अदृश्य चन्द्र का फल बताया गया है ।

रोहिणी योग की भांति स्वातीयोगाध्याय में भी वृष्टि सम्बन्धी बातें हैं । आषाढ शुक्ल में स्वाती नक्षत्र में स्थित चन्द्र के विचार करने का निर्देश किया गया है । इस अध्याय में स्वाती योग के समय, रात और दिन के त्रिभाग में शुरू हुई वृष्टि का फल वर्णित है ।

आषाढी योगाध्याय में वर्ष विशेष में किस धान्य की वृद्धि होगी यह जानने की विधि बतायी गयी है । वराहमिहिर ने लिखा है कि आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा के दिन उत्तराषाढ नक्षत्रगत चन्द्र के समय बराबर सब धान्यों को अभिमन्त्रित तराजू से अलग-अलग तौलकर रख दे, दूसरे दिन उन सबों को फिर तौले जो धान्य बढ़ जाय उसकी उस वर्ष में वृद्धि एवं जो कम हो जाय उसकी हानि होती है । तुला को अभिमन्त्रित करने के लिए आचार्य ने कुछ आर्ष मन्त्रों को भी उद्धृत किया है ।[१]

वातचक्राध्याय में आचार्य ने विभिन्नदिशाओं से चलने वाली वायु का धन धान्य और जीवों पर प्रभाव बताया है । आचार्य के मतानुसार पूर्वी, वायव्य, उत्तर और ईशान कोण से चलने वाली हवा धनधान्य की वृद्धि करने वाली, पर्याप्त वृष्टि वाली, पृथ्वी पर सुख बढ़ाने वाली और

१- बृहत्संहिता आषाढीयोगाध्याय (आर्षमन्त्र)

शत्रुओं को वश में करने वाली होती है। जबकि इसके विपरीत आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत्य और पश्चिम दिशा से चलने वाली हवा, अवर्षण, अग्नि-भय, अल्पवृष्टि, अकाल और युद्ध लाने वाली बतायी गयी है।

आचार्य ने सद्योवर्षणाध्याय में विभिन्न विधियों से वृष्टि होने अथवा न होने (सुला) का निरूपण किया है। आरम्भ में आचार्य ने प्रश्न कुण्डली के आधार पर वृष्टि एवं अवृष्टि कि विधि कही है। लिखा है कि वर्षा सम्बन्धी प्रश्न करने के समय यदि चन्द्रमा कृष्णपक्ष में जलचर राशि का होकर लग्न में बैठा हो, या शुक्लपक्ष में जलचर राशि का चन्द्रमा केन्द्र में बैठा हो और दोनों योगों में वह शुभग्रह से दृष्ट हो तो शीघ्र ही बहुत अधिक वृष्टि होती है। और यदि पापग्रह से दृष्ट हो तो अल्पवृष्टि होती है।[१] इसी तरह ग्रहों की स्थितिवश, ग्रहों के योगवश और सूर्य से ग्रहों की युद्धि वश वृष्टि का ज्ञान बताया है। इस अध्याय में मेघ के स्वरूप, मेघों के गर्जन, सन्ध्याकाल में मेघों के वर्ण, इन्द्रधनुष आदि के दर्शन, आकाश के वर्ण, आदि लक्षणों से भी वर्षा जानने का संकेत किया है। कतिपय श्लोकों में वर्षा जानने के कई लौकिक संकेतों का निरूपण किया है। जैसे नमक में विकार,[२] वायु का निरोध, मछलियों का जल से उछलकर सूखे में आना,

---

१- बृहत्संहिता २८।१

२- नमक में विकार अर्थात् पानी आना या पसीजना और वायु का निरोध दोनों ही वर्षा के आगमन का अतिवैज्ञानिक संकेत हैं। वायुमण्डल में जलवाष्प की अधिकता जब इतनी हो जाती है कि सापेक्षिक आर्द्रता शत-प्रतिशत के निकट हो जाती है तो जलवाष्प जल का रूप ग्रहण करके बूंदों के रूप में गिरने लगता है। वायुमण्डल में जलवाष्प अधिक होने से नमक

(शेष पादटिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखें)

मेढ़कों का बार-बार शब्द करना, बिल्ली द्वारा नाखून से जमीन खोदना, बिना कारण चींटियों का अण्डा लेकर एक स्थान से अन्यत्र जाना, गिरगिट और गायों का आकाश की तरफ देखना, कुत्ते का ऊपर बैठकर आकाश की ओर मुख करके भूंकना, सर्प मैथुन, अकारण गायों का उछलना ये सब लक्षण शीघ्र ही वृष्टि के बताये गये हैं। यहां यह स्मरणीय है कि ये सभी लक्षण आज भी ग्राम्यक अंचलों में वर्षा की सूचना पाने के लिए व्यवहार में लाये जाते हैं।

कुसुमलताध्याय में आचार्य ने वृक्षों में फल एवं फूलों की वृद्धि देखकर द्रव्यों की सुलभता तथा धान्यों की निष्पत्ति जानने का लक्षण बताया है। वृक्षों के पत्तों को देखकर वर्षा की सूचना का भी संकेत किया है। तथा सन्ध्यालक्षणाध्याय में सन्ध्याकालीन लक्षणों के आधार पर विविध शुभाशुभ फलों का संकेत करने के साथ ही उससे वृष्टि का संकेत भी किया है। सन्ध्याकाल के वर्ण, विभिन्न ऋतुओं में सन्ध्या के लक्षण, सन्ध्याकाश में मेघों के लक्षण और फल, सन्ध्याकाल में वायु के लक्षण आदि इस अध्याय में वर्णित हैं।

-

वायुमण्डल की नमी सोखकर गीला हो जाता है। और यह संकेत वायुमण्डल में नमी की अधिकता अर्थात् अत: वर्षा का सूचक है। इसी तरह वर्षा के पूर्व जलकणों से भरे बादल पृथ्वी के अति निकट आ जाते हैं। (बरसहिं जलद भूमि निअराये। (तुलसीदास) और उनके भार से वायु का प्रवाह थम जाता है। पुन: थोड़ी देर उपरान्त वर्षा होने लगती है। यह सामान्य अनुभव का विषय है कि यदि वायु रुकी हो तो अधिक वर्षा होती है और यदि प्रवाहित होती हो तो अल्प वृष्टि होती है अथवा वृष्टि रुक जाती है।

बृहत्संहिता के दिग्दाहलक्षणाध्याय, भूकम्पलक्षणाध्याय परिवेषलक्षणाध्याय उल्कालक्षणाध्याय आदि में आचार्य ने प्राकृतिक घटनाओं को सूचना देने वाले तथ्यों तथा घटनाओं के आधार पर शुभाशुभ-फल जानने के लक्षण बताये हैं। इसी प्रकार कई अध्यायों में शकुन और अपशकुन के लक्षण तथा उनका पृथ्वी पर चर अचर जीवों वनस्पतियों पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन किया है। भविष्य की शुभाशुभ घटनाओं का संकेत देने वाले लक्षणों का वर्णन लगभग १२ अध्यायों में किया है। जिनमें सस्य-जातकाध्याय, उत्पाताध्याय, निर्घातलक्षणाध्याय आदि प्रमुख हैं।

दिग्दाहलक्षणाध्याय में दिशाओं के विभिन्न वर्णों के आधार पर शुभाशुभ फलों का वर्णन है। निर्मल आकाश और नक्षत्र दक्षिणावर्त क्रम से घूमता हुआ वायु और सुवर्ण की तरह दिग्दाह (दिशाएं स्वर्णिम रंग की हों) तो राजा के साथ सबका हित होता है।[१] इसके अतिरिक्त पीतवर्ण का दिग्दाह राजभय, अग्निवर्ण का देश नाश, रक्त-वर्ण का शस्त्र भय करने वाला बताया गया है।[२] इसी तरह चारों दिशाएं यदि दग्ध हों तो विभिन्न वर्णों को पीड़ा पहुंचाती हैं।[३]

भूकम्पलक्षणाध्याय में आचार्य ने भूकम्प के कारण, विभिन्न नक्षत्रवश भूकम्प के लक्षण, विभिन्न मण्डलों का निर्धारण, और विभिन्न

१- बृहत्संहिता ३१ । ५

२- वही ३१ । १, २

३- वही ३१ । ३, ४

नक्षत्रों में आये भूकम्प का फल बताया है । विभिन्न आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए भूकम्प के कारण को निरूपित किया है । आचार्य ने कश्यप, गर्ग, वशिष्ठ, वृद्धगर्ग तथा पराशर के मतों के आधार पर बताया है कि भूकम्प कई कारणों से आता है । जैसे कश्यप के मत में जल में रहने वाले बड़े प्राणियों के धक्के से भूकम्प आता है । गर्ग के मत में पृथवी के भार से थके दिग्गजों के विश्राम से भूकम्प होता है । वशिष्ठ के मत से वायु एक दूसरे से टकराकर पृथवी पर गिरती है तो भूकम्प आता है ।[१] जबकि वृद्धगर्ग का मत है कि प्रजाओं के धर्माधर्म के कारण भूकम्प आता है ।[१]

आचार्य ने २७ नक्षत्रों को वायव्य, आग्नेय, इन्द्र और वरुण मण्डलों में विभाजित किया है और इन मण्डलों के विभिन्न नक्षत्रों में भूकम्प आने के सात दिन पूर्व से ही दिखायी देने वाले लक्षणों का वर्णन किया है। इन लक्षणों में कुछ तो भूगर्भिक हैं जैसे धूम से व्याप्त दिशा वाला आकाश, धूल उड़ाने वाली प्रखर वायु, सूर्य की किरण का मन्द हो जाना[२] आदि है। शेष जीवों पर वनस्पतियों के लक्षण बताये गये हैं । आचार्य के मत के अनुसार भूकम्प के पहले से ही अशुभलक्षण दिखायी देने लगते हैं । और भूकम्प का फल ६ महीने में दिखायी देता है ।[३] भूकम्प का फल सर्वदा दुर्भिक्ष,मृत्यु, रोग, अनावृष्टि आदि के रूप में दिखायी देता है और भूकम्प के बाद तीसरे, चौथे, सातवें, पन्द्रहवें, तीसहवें या पैंतालिसहवें दिन पुन: भूकम्प हो तो प्रधान

१- वृहत्संहिता ३२। १,२

२- वही ३२ । ६

३- वही ३२ । २३

राजा का नाश करता है ।[१]

भूकम्प के अतिरिक्त उल्का परिवेश इन्द्रायुध लक्षण रजो-लक्षण निर्घात सस्य जातक, द्रव्य निश्चय अर्धकाण्ड इन्द्रध्वज सम्पद नीराजन खंजन लक्षण, उत्पात, मयूर चित्रक पुष्य स्नान खड्ग लक्षण, अंग विद्या आदि प्राकृतिक घटनाओं का वर्णन किया है । उल्का का स्वरूप बताते हुए आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि स्वर्ग में शुभ फल भोग कर गिरते हुए प्राणियों का स्वरूप उल्का है । जबकि गर्ग आदि आचार्यों का मत है कि लोकपाल लोगों की परीक्षा करके शुभ अशुभ फल ज्ञान के लिए जिन अस्त्रों को छोड़ते हैं उसी का नाम उल्का है । आचार्य ने उल्का के पांच भेद बताये हैं - (१) उल्का, (२) धिष्ण्या, (३) अशनि, (४) बिजली, (५) तारा । ये उल्कायें क्रमश: १५-१५ दिन ४५ दिन तथा ६-६ दिन में फल देती हैं, आचार्य ने इन उल्काओं के स्वरूप का निरूपण भी किया है । अशुभ फल के साथ-साथ ये शुभ फल देने वाली भी हैं । जैसे - ध्वज, मत्स्य, हाथी, पर्वत, कमल, चन्द्रमा, घोड़ा, तपी हुई धूलि, हंस, श्री वृक्ष (नारियल) वज्र, शङ्ख, स्वस्तिक, रूप वाली उल्का दिखाई दे तो लोगों का कुशल और सुभिक्ष करती है ।[२] कश्यप ने भी उल्का को शुभकारक माना है ।[३] उल्का का

१- बृहत्संहिता ३२ । ३२

२- बृहत्संहिता ३३ । १०

३- बृहत्संहिता टीका पृष्ठ २०८

विशेष फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि विपरीत क्रम से जाने वाली उल्का सेठों का तिरछी चलने वाली रानियों का नीचे मुख वाली राजाओं का ऊपर को जाने वाली उल्का ब्राह्मणों का नाश करती है, जो उल्का मयूर पुच्छ की तरह हो वह प्राणी समुदाय का नाश करती है, जो सर्प की तरह चलती है वह स्त्रियों को अशुभ फल देने वाली होती है जिस ओर से आकर उल्का पुर या सेना के ऊपर गिरती है उसी दिशा की ओर से राजा को भय होता है और जिस दिशा को प्रकाशित करती हुई गिरती है उस दिशा में गमन करने वाला राजा शीघ्र शत्रुओं का नाश करता है ।[१]

परिवेश का स्वरूप बताते हुए आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि वायु के द्वारा मण्डली भूत सूर्य और चन्द्रमा के किरणस्वरूप मेघ वाले आकाश में प्रतिबिम्बित होकर अनेक वर्ण के दिखाई देते हैं उसी का नाम परिवेश है । ऋतुओं के वश परिवेश का शुभ फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि नीलकण्ठ, मयूर, चांदी, तेल, दूध और जल के समान कान्ति वाला परिवेश यदि क्रम से शिशिर आदि ऋतुओं में उत्पन्न होकर अखण्ड मण्डलाकार और निर्मल हो तो लोगों का कुशल और सुभिक्ष करता है, इसी बात को आचार्य कश्यप ने भी कहा है ।[२]

आचार्य ने परिवेश के माध्यम से वृष्टि तथा राजाओं के नाश का वर्णन किया है, लिखा है कि यदि प्रत्येक दिन सूर्य का और रात्रि में

१- बृहत्संहिता ३३ । ३०

२- वही पृष्ठ २१४

चन्द्रमा का लालवर्ण का परिवेश दिखाई दे तो राजा का नाश करता है तथा सदा उदय या अस्त काल में सूर्य या चन्द्रमा का परिवेश दिखाई दे तो भी राजा का नाश करता है । ऋषि गर्ग भी अपनी संहिता में लिखते हैं कि —

दिवा सूर्ये परीवेषो रात्रौ चन्द्रे यदा भवेत् ।
एकस्मिंश्चेद होरात्रे तदानश्यति पार्थिव: ॥

परिवेश के मध्य गये हुए ग्रहों का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि - यदि परिवेश मण्डल में शनि पड़ा हो तो छोटे धान्यों का नाश वायुयुक्त वृष्टि, स्थावर वृक्ष आदि की हानि और किसानों का नाश करता है, मंगल पड़ा हो तो कुमार सेनापति और सेनाओं को व्याकुल अग्नि भय और शस्त्र भय करता है, बृहस्पति पड़ा हो तो पुरोहित, मंत्री और राजाओं को पीड़ा होती है - बुध पड़ा हो तो मंत्री स्थावर वृक्षादि और लेखक को वृद्धि तथा सुन्दर वृष्टि होती है, शुक्र पड़ा हो तो गमन करने वाले क्षत्रियों तथा रानियों को पीड़ा और दुर्भिक्ष होता है, केतु पड़ा हो तो दुर्भिक्ष, अग्नि, मरण राजा और शस्त्र भय होता है, यदि राहु पड़ा हो तो गर्भ भय, व्याधि और राज भय होता है ।

इन्द्रधनुष का स्वरूप बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि मेघ - युक्त आकाश में वायु से सूर्य किरण टकरा कर अनेक वर्ण युक्त धनुषाकार जो दिखलाई देता है लोग उसी को इन्द्र धनुष कहते हैं अन्य आचार्यों के मतों को बताते हुए कहते हैं कि नागराज के कुल में उत्पन्न सर्पों के नि:श्वास से यह इन्द्रधनुष उत्पन्न होता है यदि इसको सम्मुख करके राजा लोग गमन करें तो उनकी पराजय होती है । अखण्ड पृथ्वी में लगा हुआ उज्ज्वल निर्मल,

अविकल अनेक वर्ण युक्त दो बार उदित या पश्चिम में स्थित इन्द्रधनुष दिखाई दे तो शुभ फल और बहुत वृष्टि करने वाला होता है । यदि अनावृष्टि के समय पूर्वदिशा में इन्द्रधनुष दिखाई दे तो वृष्टि और वृष्टि के समय दिखाई दे तो अनावृष्टि करता है तथा पश्चिम दिशा में स्थित इन्द्रधनुष सदा वृष्टि को करता है ।[१]

गन्धर्व नगर के अलग-अलग दिशाओं में दिखाई पड़ने का शुभ-अशुभ फल आचार्य ने बताया है यदि उत्तर आदि दिशाओं में गन्धर्व नगर दिखाई दे तो क्रम से पुरोहित, राजा, सेनापति और युवराज का अशुभ करता है । जिस समय आकाश में अनेक वर्ण युक्त पताका, ध्वजा या पुर द्वार की तरह गन्धर्व नगर दिखाई देता है उस समय युद्ध में हाथी, मनुष्य और घोड़ों का रक्त पृथ्वी अधिक पान करती है ।

रवी लक्षण के द्वारा राजा का नाश धूल की उत्पत्ति और नाश के द्वारा उसका फल सघन धूलि के वर्ष का फल एक या दो दिन तक धूल से आच्छादित आकाश का फल-धूलि से पर चक्र आगम का योग तीन तथा पांच रात्रियों तक धूलि गिरने का फल आचार्य ने बताया है । वे लिखते है कि यदि केतु आदि के उदय के बाद धूलि गिरे तो लोकमय देने वाली होती है,आचार्य ने कुछ आचार्यों का मत देते हुए लिखा है कि धूलि से आच्छादित आकाश शिशिर ऋतु के अतिरिक्त अन्य सब ऋतुओं में ठीक-ठीक फल देती है ।[२]

१- बृहत्संहिता ३५ । ६

२- वही ३८ । ८

निघाति का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जब पवन से टकरा कर पवन आकाश से पृथवी पर गिरता है उस समय उसके गिरने से जो शब्द होता है उसका नाम निघाति है यदि वह सूर्याभिमुख स्थित पक्षियों के शब्द से युक्त हो तो दुष्ट फल देने वाला होता है इसी बात को गर्ग ने भी कहा है --

> यदान्त रिक्षे वलवान् मारुतो मारुताहत: ।
> पतत्यध: स निघातो भवेदनिल संभव: ।।

शस्य जातक में आचार्य ने बादरायण मुनि के मत को बताते हुए लिखा है कि सूर्य के वृश्चिक में प्रवेश होने के समय केन्द्र स्थान में शुभ गृह हों या वहां कहीं पर स्थित बली शुभ गृहों से वृश्चिक गत सूर्य देखा जाता हो तो ग्रीष्म ऋतु में होने वाले धान्यों की वृद्धि होती है इसके पश्चात् आचार्यों ने गृह स्थित वश ग्रैष्मिक धान्यों की वृद्धि तथा धान्यों की निष्पत्ति शारदीय धान्यों की स्थिति का ज्ञान सूर्य के संचारवश ग्रीष्मकालिक धान्यों की समर्घता और महर्घता तथा इसी प्रकार शारदीय धान्यों का विचार भी किया है ।

अर्घकाण्डाध्याय में आचार्य वराहमिहिर ने मेषादि राशियों में सूर्य के गमन करने पर प्रति मास की अमावस्या और पुर्णिमा में अति वृष्टि उल्का, दण्ड, परिवेश, गृहण परिधि आदि उत्पातों को देखकर द्रव्यों के विशेष मुल्य का विचार करना बताया है जैसे कि कर्क राशि गत सूर्य के समय में मधु, सुगन्ध, द्रव्य, तेल, घी और शक्कर का संगृह करके दुसरे मास में विक्रय करने से दुना लाभ होता है, दो महीने से कम या ज्यादा में विक्रय करने से हानि होती है इसी प्रकार अन्य राशियों का भी फल बताया है ।

इन्द्र ध्वज की उत्पत्ति के बारे में आचार्य का मत है कि एक बार सब देवताओं ने ब्रह्मा जी से कहा कि हे भगवन् राक्षसों के साथ युद्ध करने के लिए हम समर्थ नहीं हैं । अत: आपकी शरण लेते हैं भगवान् ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा कि क्षीर सागर में भगवान् नारायण विराजमान हैं वे एक केतु आपको देंगे जिसको देखकर राक्षस गण युद्ध में नहीं ठहरेंगे इस प्रकार जब देवताओं ने भगवान विष्णु की स्तुति की तब प्रसन्न होकर नारायण ने चन्द्र और सूर्य के समान ध्वज देवताओं को दिया जिसे इन्द्र-ध्वज कहते हैं । आचार्य ने ध्वज का स्वरूप और महात्म्य आदि का वर्णन किया है ।

उत्पात का वर्णन करते हुए आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि महर्षि गर्ग ने जिन उत्पातों का वर्णन अत्रि ऋषि से किया था उन्हीं का वर्णन संक्षेप में करता हूं, मनुष्यों के अभिनय से पाप इकट्ठे होते हैं उन पापों से उपद्रव होते हैं दिव्य अन्तरिक्ष, भौम उत्पात उन उपद्रवों को सूचित करते हैं मनुष्यों के अभिनय से अप्रसन्न ● देवतागण उन उत्पातों को उत्पन्न करते हैं अत: उनके निवारण के लिए राजा को शान्ति करानी चाहिए । आचार्य का मत है कि अधिक सुवर्ण, अन्न, गाय और पृथ्वी दान करने से दिव्य उत्पात भी शान्त हो जाते हैं तथा शिवालय में भूमि पर गौ दोहन और कोटि संख्यक हवन से दिव्य उत्पात शान्त हो जाते हैं ।अग्नि वैकृत के द्वारा उत्पात को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस राजा के राज्य में बिना अग्नि की ज्वाला दिखाई दे और काष्ठ युक्त अग्नि प्रज्वलित नहीं उस राजा और देश को पीड़ा होती है लिखा है कि जल, मांस और

गीली वस्तु में अकारण जल पैदा हो तो राजा की मृत्यु सहन आदि में जल पैदा हो तो भयङ्कर युद्ध और सेनाओं तथा नगर में अग्नि नहीं मिले तो अग्नि का भय होता है।[१] वृक्ष वैकृत अन्य उत्पात का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अचानक वृक्ष की शाखा टूट जाने से युद्ध की तैयारियां वृक्षों के हसने से देश का नाश और वृक्षों के रोने से व्याधि की अधिकता होती है। ऋतु वर्जित काल में वृक्षों में पुष्प और फलों की उत्पत्ति होने से राज्य में विभेद छोटे वृक्षों में बहुत पुष्प आने से बालकों का नाश और वृक्षों से दूध निकलने से द्रव्यों का नाश होता है इसी बात को प्रकारान्तर से महर्षि गर्ग भी कहते हैं[२] -

स्वराष्ट्र भेदं कुरुते फल पुष्प मनात्तवम् ।
बालानांह मरणं कुर्याद्बालानां फल पुष्प जम् ।।

सस्य जन्य उत्पातों का लक्षण और फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि कमल, जौ आदि के एक नाल में दो या तीन बाल की उत्पत्ति हो तो क्षेत्र के अधिपति का मरण होता है तथा यमल पुष्प और फलों की उत्पत्ति हो तो भी अधिपति का मरण होता है। वृष्टि सम्बन्धी उत्पात का लक्षण और फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि अनावृष्टि हो तो दुर्भिक्ष अति वृष्टि हो तो दुर्भिक्ष तथा शत्रु भय वर्षा ऋतु से भिन्न ऋतु में वृष्टि हो तो रोग और बिना मेघ की वृष्टि हो तो राजा की मृत्यु होती है।

१- अध्याय ४५ श्लोक १८, १६ ।

२- ,, पृ० सं० ४५ - २५, २६

शीत और उष्ण में व्यत्यय होने से अर्थात् गर्मी के समय में ठंडी और ठंड के समय में गर्मी के पड़ने से तथा जिस ऋतु का जो धर्म हो वह ठीक ठीक नहीं होने से ६ मास बाद राष्ट्र भय और देव जनित रोग भय होता है।[१] जल वैकृत उत्पात को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि नगर के मध्य या पास में बहती हुई नदियां दूर चली जायं या नहीं सूखने वाले ह्रद आदि सूख जायं तो शीघ्र प्राणियों से शून्य नगर हो जाता है। यदि नदियों में तेल, रुधिर, या मांस बहने लगे या स्वल्प और मलिन जल हो जाय तो ६ मास बाद पर चक्र का आगम होता है। कूप में अग्नि की ज्वाला, धुआं जल का खौलना रोने का शब्द, गीत या और किसी प्रकार के शब्द लोगों की मृत्यु के लिए होते हैं।[२] प्रसव वैकृत उत्पातों का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि स्त्रियों को किसी प्रकार का प्रसव विकार घोड़ा, हाथी, बैल, सर्प आदि जन्तु की तरह जातक होने पर अथवा एक साथ दो तीन चार आदि बच्चे होने पर अथवा प्रसव काल से पहले या पीछे प्रसव होने पर देश और कुल का नाश होता है। घोड़ी, उटनी, भैंस, गाय और हथिनी को एक साथ दो बच्चे हों तो उन बच्चों का नाश होता है, ६ मास बाद प्रसव विकार का फल होता है।

इस प्रकार उत्पातों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि पागलों की गाथा (गीतादि) बालकों का वचन और स्त्रियों की वाणी का उल्लंघन नहीं होता है अर्थात् सभी सत्य होता है बिना प्रेरणा के नहीं बोलने वाली यह सत्य रूप सरस्वती पहले देवताओं में विचरण करती थी बाद में मनुष्यों को प्राप्त हुई। आचार्य लिखते हैं कि गणित को नहीं

१- बृहत्संहिता ४५-३८,३६ २- बृहत्संहिता ४५-४७,४८,४६

जानने वाले मनुष्य भी इन उत्पातों को जानकर यशस्वी और राजा के प्रिय होते हैं ।[१]

इसके अतिरिक्त मयूर चित्रक में गृह चारोक्त फल गृह और नक्षत्र बिम्बों के वश फल दो, तीन आदि चन्द्र और सूर्य के दर्शन का फल आदि का वर्णन किया है । शनि, मंगल और केतु से रोहणी शकट को भेद करने के फल को बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि उस समय और अमंगल क्या कहूं सम्पूर्ण विश्व अनिष्ट सागर में पड़कर नाश होता है अर्थात् उस समय अमंगल ही अमंगल दिखाई देता है ।[२]

आचार्य ने पुष्य स्नान करने की विधि, स्थान पुष्य स्नान करने का फल, आह्वाहन का मंत्र, देवताओं की पूजाविधि, कलश का प्रमाण, अभिषेक के मंत्र, पुष्य स्नान का माहात्म्य आदि का वर्णन किया है । इसके अतिरिक्त अङ्ग विद्या अध्याय में प्रश्न कालिक शुभाशुभ लक्षण शुभ और अशुभ स्थान, प्रश्न करने में दिशा और काल का लक्षण पुरुष-स्त्री और नपुंसक संज्ञक अङ्ग, अलग-अलग अङ्ग स्पर्श का फल प्रश्न काल में ताल पत्र आदि के दर्शन का फल, पीपल आदि के दर्शन का फल, न्याग्रोध आदि के दर्शन का फल, धान्यों से पूर्ण-पात्र आदि का फल, पशु आदि के दर्शन का फल, मित्र आदि की चिन्ता का ज्ञान, बौद्ध आदि के दर्शन का

१- बृहत्संहिता ४६, ६७, ६८

२- वही ४७, १४

फल, तापस आदि के दर्शन का फल, प्रश्नकालिक शब्द से चिन्ता का ज्ञान, अङ्ग स्पर्श से चोर का ज्ञान, ललाट आदि के स्पर्श से प्रश्नकर्ता के भोजन का ज्ञान, गर्भ में स्थित पुत्र कन्या अथवा नपुंसक का ज्ञान, गर्भ चिन्ता का ज्ञान, गर्भ और गर्भपात का ज्ञान, अङ्गस्पर्श से सन्तान संख्या का ज्ञान इत्यादि का वर्णन किया है।[१]

-

१- बृहत्संहिता अ० ५१

वास्तुविद्या वर्णन प्रसंग में सर्वप्रथम आचार्य वराहमिहिर ने वास्तुपुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुये कहते हैं कि प्राचीन काल में अपने शरीर से पृथ्वी एवं आकाश को ढाकने वाला कोई अपरिचित व्यक्ति उत्पन्न हुआ । उसको सहसा देवताओं ने पकड़कर नीचे मुख करके पृथ्वी पर स्थापित कर दिया उस समय जो देवता जिस अंग को पकड़े हुये थे उन्होंने उस अंग में अपना स्थान बना लिया । उस देवमय अपरिचित व्यक्ति को ब्रह्मा जी ने वास्तु पुरुष नाम से कल्पित किया ।[१] इसी बात को प्रकारान्तर से बृहस्पति ने भी वर्णन किया है । आचार्य वराहमिहिर ने राजाओं के घर का प्रमाण सेनापति के गृह का प्रमाण, मंत्री के गृह का प्रमाण, युवराज के गृह का प्रमाण तथा सामन्त, प्रधान राजपुरुषों, अधिकारी ज्योतिषी आदि के गृह का प्रमाण, पृथक-पृथक ढंग से निरूपित किया है । ब्राह्मण आदि चतुर्वर्णों के गृहों का विस्तार और दैर्घ्य का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं कि बत्तीस हाथ में चार-चार हाथ कम करके घर बनाना चाहिये ।[२] शल्य-ज्ञान का प्रकार बताते हुये आचार्य कहते हैं कि कि हवन काल या प्रश्न काल में गृहस्वामी जिस अंग को खुजलावे वास्तु नर के उस अंग स्थान में शल्य कहना चाहिये । शल्यों के विभाग का फल बताते हुये

१- बृहत्संहिता अध्याय - ५३ । श्लोक - २-३

२- वही ५३ । १२

कहते हैं कि काष्ठ का शल्य हो तो धन हानि, हड्डी का शल्य हो तो पशुपीड़ा एवं रोगभय, लोहे का शल्य हो तो शस्त्र का भय, कपाल या केश का शल्य हो तो मृत्यु, कोयले का शल्य हो तो चोर भय एवं भस्म का शल्य हो तो सदा अग्नि भय होता है। सोना एवं चांदी के अतिरिक्त कोई शल्य वास्तु पुरुष के मर्म स्थान में स्थित हो तो अत्यन्त अशुभ होता है।[1] ब्राह्मणादि वर्णों का निवास स्थान बताते हुये आचार्य ने लिखा है कि ब्राह्मणादि वर्ण क्रम से उत्तर आदि दिशा में वास बनावें जैसे - ब्राह्मण उत्तर में, क्षत्रिय पूरब में, वैश्य दक्षिण में तथा शूद्र पश्चिम में निवास स्थान बनावें। दिशा के वश शुभ एवं अशुभ वृक्षों का फल बताते हुये आचार्य का मत है कि पाकड़, वट, गूलर, पीपल ये चार वृक्ष प्रदक्षिण क्रम से दक्षिणादि दिशाओं में अशुभ और उत्तर आदि दिशाओं में शुभ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने गर्ग के कथनों का यहां समर्थन किया है।[2] गृह के समीप रहने वाले वृक्षों का फल वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं कि कांटेदार वृक्ष के गृह समीप रहने से शत्रु भय होता है। दूध वाला वृक्ष गृह-

---

१- बृहत्संहिता ५३ । ६०-६१

२- वर्जयेत्पूर्वतोऽश्वत्थं, प्लक्षं दक्षिणतस्तथा ।
न्यग्रोधं पश्चिमे भागे उत्तरे चाप्युदुम्बरम् ।।

समीप में रहने से धन-नाश होता है। फल वाले वृक्ष के गृह के समीप में रहने से सन्तति का नाश होता है इनके काष्ठ भी गृह में लगाने से शुभ नहीं होता। ब्राह्मणादि वर्णों के लिये उत्तर तरफ ढालू वाली भूमि ब्राह्मण के लिये पूर्व दिशा की ओर क्षत्रियों के लिये दक्षिण की ओर, वैश्यों के लिये पश्चिम की ओर ढालू भूमि शूद्रों के लिये शुभ होती है। भूमि के शुभाशुभ लक्षण का परीक्षण करने के लिये चार बत्ती वाला दीपक जलाकर मिट्टी के कच्चे बर्तन में डाले। उनमें उत्तरादि क्रम से ब्राह्मादि वर्णों की कल्पना करे फिर उस बर्तन को गड्ढे में डाले, जिस दिशा की बत्ती देर तक जलती रहे उस दिशा के वर्ण के लिये वह भूमि शुभ होती है।[१]

गृहारम्भ का विधान बताते हुये आचार्य ने लिखा है कि गृहपति ब्राह्मणों के द्वारा प्रशंसित भूमि को पहले हल से जुतवा कर उसमें बीज बोवें बाद में उस बीज के पक जाने पर एक रात के लिये उसमें गायों को बैठावें बाद में दैवज्ञ के बताये हुये मुहूर्त में वहां जाकर अनेक प्रकार के भक्ष्य पदार्थ दध्यक्षत, सुगन्ध पुष्प और धूपों से दैवज्ञपति, स्थपति और ब्राह्मणों की पूजा करके यदि गृहपति ब्राह्मण हो तो शिर, क्षत्रिय हो तो वक्षस्थल, वैश्य हो तो ऊरु और शूद्र हो तो पांव स्पर्श करके गृहारम्भ की रेखा खींचे।[२] तदनन्तर शांगी आदि के शब्दवश हड्डी का ज्ञान, गदहे के शब्दादि से शल्य-

---

१- बृहत्संहिता ५३ । ९४

२- वही ५३ । ९८ से १००

ज्ञान पक्षियों के शब्द द्वारा शकुन ज्ञान तथा अन्य शुभाशुभ ज्ञान का वर्णन किया है। गृहपति को कुछ उपदेश देते हुये वराहमिहिर कहते हैं कि लक्ष्मी की इच्छा करने वाला मनुष्य अन्न गौ गुरु अग्नि एवं देवता के ऊपर तथा वंशों के ऊपर न सोवे। उत्तर या पश्चिम की तरफ सिर करके न सोवे तथा नंगा एवं जल से भीगे पांव रखकर न सोवे। प्रवेशकालिक गृह का स्वरूप बताते हुये आचार्य ने लिखा है कि बहुत पुष्पों से भूषित तोरण से अलंकृत जलपूर्ण कलशों से शोभित, धूप, गन्ध, पुष्पादि से पूजित देवताओं से युत और ब्राह्मणों के द्वारा की गयी वेद-ध्वनियों से युत गृह में प्रवेश करना चाहिए।

दकार्गल वर्णन प्रसंग में आचार्य ने पूर्वादि दिशाओं में स्थित शिराओं के नाम, वेतस् के वृक्ष से शिरा का लक्षण, जामुन के वृक्ष से शिरा का ज्ञान, जम्बू वृक्ष से पूर्व वल्मीक होने से जलोत्पत्ति का ज्ञान, गूलर के वृक्ष से जल का ज्ञान तथा अर्जुन, सिन्धुवार, बेर, ढाक, बेल, फल्गु, कपिल, कुमुदा, बहेड़ा सप्तपर्ण, कनक, महुआ, तालमखाना, कदम्ब, ताल, नारियल, कपित्थ, अश्मन्तक, हरिद्र आदि वृक्षों के द्वारा जमीन में स्थित जल का ज्ञान बताया है । वल्मीक युक्त तिलक आदि वृक्षों से जल का ज्ञान बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि जहां पर निर्मल वल्मीक से युक्त तिलक, आम्रातक, वरुणक, भिलावा, बेल, तेन्दू, अङ्कोल, पिण्डाल, शिरीष, अञ्जन, परुषक, अशोक इत्यादि वृक्ष हों वहां इन वृक्षों से तीन हाथ पर उत्तर दिशा में साढ़े चार पुरुष नीचे जल होता है ।[१] इसके अतिरिक्त तृण रहित एवं तृण सहित प्रदेश से धन का ज्ञान, कांटे वाले एवं बिना कांटे वाले वृक्ष से धन का ज्ञान, भूमि को पांव से ताड़न करने पर जल का ज्ञान, वृक्ष की शाखा से जल ज्ञान, फल पुष्पों से शिरा ज्ञान तथा करीरी, बबूर, कर्णिकार, ढाक, बाढ़प एवं धुम पेलुवृक्ष, करीर वृक्ष, रोहितक वृक्ष, अर्जुन

१- बृहत्संहिता ५४ । ५०-५१

वृक्ष, धतूरा, बेर और लालकरञ्जक के संयोग से, करीर एवं बेर वृक्षों के संयोग से, पीलु एवं बेर के वृक्ष के संयोग से, अर्जुन एवं करीर अथवा अर्जुन एवं बेर वृक्ष के संयोग से भूमिस्थ जल का ज्ञान कराया है। वल्मी के उपर दूब कुशा आदि रहने से २१ पुरुष नीचे जल मिलता है। इसी प्रकार जिस भूमि में, कदम्ब एवं वल्मीक के ऊपर दूब दिखायी दे वहां कदम्ब वृक्ष से दक्षिण दो हाथ पर २५ पुरुष नीचे जल होता है।[१] शमी वृक्ष से जल का ज्ञान कराते हुये आचार्य लिखते हैं कि जहां पर अनेक गांठों से युत शमी वृक्ष हो एवं उसके उत्तर वल्मीक हो तो उस शमी वृक्ष के पश्चिम पांच हाथ पर पचास पुरुष नीचे जल होता है। इसी प्रकार आचार्य ने पलाश युत शमी वृक्ष से वल्मीक से युत रोहितक वृक्ष से, वल्मीक के ऊपर जामुन आदि वृक्ष से स्निग्ध वृक्षों से बड़ पीपल और गूलर के संयोग से जल के ज्ञान को बताया है। यहां जल ज्ञान में तारतम्य बताते हुये आचार्य कहते हैं कि जिन चिह्नों से मरुस्थल में जल ज्ञान कहा गया है उन चिह्नों से जाङ्गल (स्वल्प जल वाले) देश में जल ज्ञान नहीं कहना चाहिये। पहले जामुन बेत आदि के द्वारा जल ज्ञान के समय जो पुरुष प्रमाण कहा गया है उसको द्विगुणित करके मरुदेश में ग्रहण करना चाहिये। मनु द्वारा प्रतिपादित उदकार्गल के आधार पर आचार्य वराहमिहिर मुंज आदि से युत भूमि में,भूमि

१- बृहत्संहिता ५४। ७८

के वर्ण से साल आदि के लक्षण से, कबूतर आदि के समान पत्थर को देखकर चन्द्रकिरण आदि के समान पत्थर से जल के ज्ञान का प्रकार बतलाया है ।

-

पराशर मुनि द्वारा कहे गये गो लक्षण के आधार पर आचार्य वराहमिहिर को गायों के अशुभ लक्षण का वर्णन करते हुये कहते हैं कि आंसुओं से भरी गंदली, रूखी, चूहे के समान आंख वाली तथा हिलती हुई सींग वाली तथा चिपटे सींग वाली तथा गदहे के समान वर्ण वाली गौ शुभ देने वाली नहीं होती है । इसी प्रकार बैलों के शुभ तथा अशुभ लक्षण का भी वर्णन किया है । बैलों के शुभ लक्षण को बताते हुये आचार्य कहते हैं कि जिस बैल की पूंछ भूमि को छूती हो ताम्रवर्ण की सींग हो, लाल आंख हो, थूही से युक्त हो और कल्माष वर्ण हो ऐसा बैल शीघ्र अपने स्वामी को धनी बनाता है ।[१]

कुत्ते का लक्षण बताते हुये आचार्य कहते हैं कि जिस कुत्ते के तीन पांव में पांच-पांच नख तथा शेष आगे के दाहिने पांव में छ: नख हो, ओठ एवं नाक के आगे का भाग ताम्रवर्ण का हो, सिंह के समान गति हो, भूमि को सूंघता हुआ चलता हो, पूंछ बहुत बालों से युक्त हो, भालू के समान आंख हो तथा दोनों कान लम्बे तथा कोमल हो तो ऐसा कुत्ता अपने स्वामी

१- बृहत्संहिता ६१ । १८

के घर में परिपूर्ण लक्ष्मी करता है।[१]

कुक्कुट का लक्षण बताते हुये कहते हैं कि जिस मुर्गे का पंख और अंगुली सीधी हो ताम्रवर्ण का मुख नख एवं चोटी हो, सफेद वर्ण हो रात्रि के आखीर में अच्छे स्वर से बोलता हो तो ऐसा मुर्गा राजा राज्य एवं घोड़ों की वृद्धि करता है।[२] इसी प्रकार आचार्य ने कच्छप के शुभ एवं अशुभ लक्षणों द्वारा राजा की ह्रास वृद्धि का वर्णन किया है।

बकरे का शुभाशुभ लक्षण बताते हुये आचार्य कहते हैं कि नव दश या आठ दांत वाले छाग शुभ होते हैं, अतः उनको घर में रखने से शुभ होता है तथा सात दांत वाले छाग अशुभ होते हैं अतः उनका बहिष्कार करना चाहिये। इसी प्रकार कुट्टक छाग, कुटिल छाग, जटिल छाग, वामन आदि छागों के शुभाशुभ लक्षणों को बताया है।

अश्वों का लक्षण बताते हुये आचार्य ने लिखा है कि दीर्घ ग्रीवा एवं नेत्र कोश वाला विस्तीर्ण कटि एवं हृदय वाला ताम्रवर्ण के तालु ओठ एवं जीभ वाला, सूक्ष्मचर्म, शिर के बाल एवं पूंछ वाला सुन्दर शफ एवं गति तथा मुख वाला छोटे कान ओठ एवं पूंछ वाला गोल जङ्घा जानु एवं

१- बृहत्संहिता ६२।१

२- तदेव ६३। १

उर वाला बराबर एवं सफेद दांत वाला तथा दर्शनीय आकार एवं शरीर की शोभा वाला सर्वाङ्ग सुन्दर घोड़ा सदा राजा के शत्रु के नाश के लिये होता है । इसके अतिरिक्त आचार्य ने अश्वों के अशुभ एवं शुभ आवर्तों का लक्षण तथा दश ध्रुवावर्तों को बताया है । अश्वों की अवस्था के ज्ञान का प्रकार भी आचार्य ने समुचित ढंग से बताया है ।

आचार्य ने गजों की चार जातियों का प्रकार एवं लक्षण बताया है, उसमें भद्र जाति का लक्षण बताते हुये लिखते हैं कि शहद के समान रंग के दांत वाले अवयवों के विभाग से परिपूर्ण, बहुत स्थूल, बहुत दुर्बल, कार्य सम तुल्य अङ्गों से युत, धनुषाकार, पृष्ठवंश तथा सुवर के समान वर्तुलाकार जानु एवं कमर वाले हाथी भद्र संज्ञक होते हैं । इसी तरह मन्द संज्ञक, मृग संज्ञक एवं मिश्र संज्ञक हाथियों के लक्षणों को आचार्य ने पृथक ढंग से वर्णित किया है । हस्तिमद के वर्ण का लक्षण बताते हुये वे कहते हैं कि भद्र जाति के हाथी का मद हरा मन्द जाति के, हल्दी के समान पीला, मृग जाति के काला और मित्र जाति के हाथी का मद मिश्रित वर्ण का होता है ।[१]

१- बृहत्संहिता ६७ । ५

भारतीय ज्योतिष शास्त्र में आचार्य वराहमिहिर ही ऐसे ज्योतिषी हुये हैं जिन्होंने सर्वप्रथम रत्नों के सम्बन्ध में तथा रत्नों का ग्रहों से सम्बन्ध एवं रत्नपरीक्षण का विस्तार से वर्णन किया है । रत्नों की उत्पत्ति में विद्वानों का मतभेद बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि किसी का मत है बल संज्ञक दैत्य से रत्न की उत्पत्ति हुई । कुछ दधीचि मुनि के अस्थि से तथा कुछ पृथ्वी के स्वभाव से उपलों में विचित्रता होकर रत्न का रूप ग्रहण करता है ।[1]

वज्र (हीरा) इन्द्रनील, मरकत, करकेतर पद्मराग, रुधिर, वैडूर्य, पुलक, विमलक, राजमणि स्फटिक चन्द्रकान्त, शैवन्धिक, गोमेद, शङ्ख, महानील, पुष्पराज, ब्रह्ममणि, ज्योतीरस, सस्यक, मुक्ता, मूंगा आदि रत्नों के प्रकार का वर्णन किया है । वज्रमणि के सात आकर स्थान बताया है जैसे वेणा नदी के तट पर विशुद्ध हीरा, कोशल देश में शिरीषपुष्प के समान, सौराष्ट्र देश में कुछ लाल, सूर्पारक देश में काला, हिमवान् पर्वत पर कुछ लाल, मतङ्ग देश में वल्ल पुष्प के समान कलिङ्ग देश में पीला और पौण्ड्र देश में श्याम वर्ण का हीरा उत्पन्न होता है । विभिन्न प्रकार के हीरे के पृथक्-पृथक् देवताओं का भी वर्णन किया है । ब्राह्मणादि वर्णों

१- बृहत्संहिता ८० ।३

के लिये क्रमश: सफेद, लाल और पीला, शिरीष पुष्प के समान वर्ण वाला तथा नीला हीरा शुभ कारक वर्णकारक होता है । विभिन्न हीरों का पृथक्-पृथक् मूल्य भी आचार्य ने वर्णित किया है । शुभ हीरे का लक्षण बताते हुये लिखते हैं कि जो हीरा किसी वस्तु से न टूटे, अल्प जल में भी किरण की तरह तैरता रहे निर्मल बिजली, अग्नि या इन्द्रधनुष के समान वर्ण वाला सर्वदा कल्याणकारी होता है ।[१] इसी प्रकार अशुभ हीरे का भी लक्षण बताया है । हीरे को धारण करने से उसके गुण को बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि हीरा के लक्षणों को जानने वाले पंडितों का कहना है कि पुत्र चाहने वाली स्त्रियों को किसी प्रकार का हीरा नहीं धारण करना चाहिये । सिंघाड़े की आकृति वाला तीन पुटों से युक्त धान्य फल के समान या श्रेणी के समान हीरे का धारण करना पुत्र चाहने वाली स्त्रियों के लिये शुभ है ।[२]

मोतियों की उत्पत्ति स्थान एवं सर्वश्रेष्ठ मुक्ता का वर्णन करते हुये आचार्य प्रवर कहते हैं कि हाथी, सर्प, सीपी, शङ्ख, मेघ, बांस, मछली और सुअर से मोती की उत्पत्ति होती है । उन सब में उत्तम सीपी से उत्पन्न मोती है । सिंहलक देश, परलोक देश सुराष्ट्र देश, ताम्रपर्णी नदी, पारशव देश, कौबेर देश, पाड्यवाटक देश, हिम ये आठ मोतियों के आकर स्थान

१- बृहत्संहिता ८० । १४

२- वही ८० । १७

है । विभिन्न मोतियों के पृथक्-पृथक् देवताओं का तथा मोतियों के मूल्य का भी वर्णन किया है । गजमुक्ता का लक्षण बताते हुये लिखते हैं कि पुष्य या श्रवण नक्षत्र में चन्द्र या रविवार में उत्तरायण में रवि एवं चन्द्र के गृहण काल में ऐरावत कुल में उत्पन्न जिन भद्र हाथियों का जन्म होता है उनके दन्तकोश या कुम्भों में बड़े-बड़े अनेक प्रकार के एवं कान्तियुक्त बहुत से मोती निकलते हैं । इनका मूल्य तथा इनमें छिद्र नहीं करना चाहिये । उन प्रभायुक्त महापवित्र मोतियों को धारण करने से राजाओं को पुत्र, विजय और आरोग्य की प्राप्ति होती है ।[1]

इसी प्रकार सुअर एवं मछली मेघ नागज बाँश, शङ्ख आदि से उत्पन्न मोतियों का लक्षण बताया है । नागज मुक्ता फल जानने के प्रकार को बताते हुये कहते हैं कि यदि प्रशस्त भूमि पर चांदी के पात्र में उस मोती को रख देने से अचानक वर्षा होने लगे तो नाग से उत्पन्न मोती जानना चाहिये ।[2]

पद्मरागों की उत्पत्ति का लक्षण बताते हुये लिखते हैं कि सौगन्धिक, कुरविन्द, स्फटिक इन तीन तरह के पत्थरों से पद्मराग की

१- बृहत्संहिता ८१ । २०-२१-२२

२- वही ८१ । २६

उत्पत्ति होती है । सौगन्धिक पत्थर से उत्पन्न पद्मराग, भ्रमर अञ्जनमेघ या जामुन के रस के समान कान्ति वाले होते हैं । कुरविन्द पत्थर से उत्पन्न पद्मराग शुक्ल कृष्ण मिश्रित पद्मराग मन्द कान्ति वाले और धातुओं से विद्ध होते हैं । तथा स्फटिक से उत्पन्न पद्मराग कान्तिवाले अनेक वर्ण वाले एवं विशुद्ध होते हैं । पद्मरागमणि के गुणों को बताते हुये कहते हैं कि स्निग्ध कान्ति से दीप्त स्वच्छ कान्ति से युक्त भारी सुन्दर आकार वाले, मध्य में प्रभायुक्त, अति लोहित, श्रेष्ठ गुणों से युक्त ये सब पद्मराग मणि के प्रधान गुण है । इसी प्रकार मणि के दोषों को भी बताया है । उपर्युक्त गुणवाली मणि के प्रभाव को बताते हुये कहते हैं कि जो राजा श्रेष्ठ गुणवाली मणि को धारण करता है उसको कभी भी विष या रोग सम्बन्धी दोष नहीं होते हैं । उसके राज्य में इन्द्र सदा वर्षा करते हैं । मणि के प्रभाव से वह राजा शत्रुओं का नाश करता है ।[१] मरकत का प्रयोजन एवं लक्षण बताते हुए कहते हैं कि तोता बाँस का पत्ता, केला या शिरीष पुष्प के समान कान्तिवाला मरकत (पन्ना) को देवता या पितर के कार्य में धारण करने पर बहुत ही शुभ फल होता है ।[२]

१- बृहत्संहिता ८२ । ६

२- वही ८३ । १

पशुपक्षियों के शब्द तथा उनकी विशिष्ट चेष्टाओं के आधार पर सम्भावित शुभाशुभ फल की सूचना आचार्य वराहमिहिर ने पक्षियों के प्रकार का वर्णन करते हुये सर्वप्रथम दिन चर रात्रि चर और उभय चर जन्तुओं का पृथक् रूप में वर्णन किया है । दिनचर जन्तु है पोतकी, बाज, शशघ्न, वञ्जुल, मयूर, श्रीकर्ण, चकवा, चाष, अण्डीरक, खञ्जन तोता, कौवा,तीन प्रकार के कबूतर, भारद्वाज, गर्ता कुक्कुट ये सब पक्षी, गदहा, हारियल,गृद्ध ये दोनों पक्षी, वानर, फेन्ट पक्षी, मुर्गा, कराइक, चटका ये पक्षी और सब जन्तु दिनचर हैं । तथा लोमड़ी, उलूकभेरी, छिप्पिका पक्षी, बागल्म, उल्लु, खरहा ये सब जन्तु रात्रि चर हैं । यदि ये सब जन्तु समय को लांघकर घुमे अर्थात् रात्रिचर दिन में एवं दिनचर रात्रि में घूमें तो देश का नाश एवं राजा की मृत्यु करने वाले होते हैं ।[१] इसके अतिरिक्त आचार्य ने वञ्जुल बाज तोता और गिद्ध, इनके स्वरों का लक्षण, कबूतर की चेष्टा और उसका फल, श्यामा पक्षी का शब्द हारीत तथा भारद्वाज पक्षी का शब्द, कराइका पक्षी का शब्द, दिव्यक पक्षी की चेष्टा सर्प की चेष्टा, खञ्जनपक्षी की चेष्टा तित्तिर तथा खरगोश की चेष्टा, वानर एवं कुलाल कुक्कुट का शब्द, चाष के शब्द एवं चेष्टा, काक के साथ चाष की लड़ाई का फल, चाष का शब्द, अण्डीरक एवं फेन्ट पक्षी की चेष्टा, श्री कर्ण का शब्द, दुर्बलि पक्षी का शब्द, माण्डरीक का विशेष शब्द, मैना का शब्द फेन्ट के शब्द का फल, गदहे का शब्द, कुरंग, मृग एवं पृषत् का शब्द, मुर्गे का शब्द, छिप्पिका एवं

१- बृहत्संहिता ८८ ।२

माजीरका शब्द, उलूक का शब्द, सारस का शब्द, पिङ्गला का आदि पक्षियों के शब्दों का ज्ञान एवं फल बताया है ।

श्वान की चेष्टा का वर्णन करते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिस समय मनुष्य घोड़ा, हाथी, घड़ा, पर्याय, दारिवृक्ष, ईंट का ढेर, छत्र, शैय्या, आसन, उखल, ध्वज, चामर, दूब एवं फूल वाले स्थान पर मूत्र कर कुत्ता गमन करने वाले के आगे होकर जाय, उस समय कार्य की सिद्धि गीले गोबर पर मूत्र कर आगे होकर जाय तो मिष्ठान्न भोजन की प्राप्ति तथा सूखी वस्तु पर मूत्र कर गमन करने वाले के आगे होकर जाय तो सूखे अन्न गुड़ और मोदकों की प्राप्ति होती है । यदि सूर्योदय के समय एक या बहुत से कुत्ते इकट्ठे होकर सूर्य की तरफ मुख करके रोयें तो शीघ्र देश में अन्य स्वामी होने की सूचना देती है ।[१] यदि आधी रात में उत्तर की तरफ मुख करके कुत्ता रोवें तो ब्राह्मणों को पीड़ा और गायों की चोरी होने की सूचना देता है । यदि रात्रि के अन्त में ईशान कोण की तरफ मुख करके कुत्ता रोवे तो कुमारी को दूषित अग्नि का भय और स्त्रियों के गर्भपात का भय होता है । इसी तरह आचार्य ने कुत्तों की चेष्टाओं सम्बन्धित तथा उससे घटित होने वाले अनेक शुभाशुभ फलों का वर्णन किया है ।

इसी प्रकार कुत्ते के अतिरिक्त शृंगाल की चेष्टाओं का वर्णन किया है । शिशिर ऋतु में शृगाल को मद की प्राप्ति होती है अत: उस समय इसका शुभाशुभ फल नहीं घटता । शृगाल के अतिरिक्त लोमाशिका की चेष्टा

१- बृहत्संहिता ८६ ।४

शृगाली की चेष्टा का वर्णन किया है। शिवा के अशुभ फल बताते हुये लिखते हैं कि शिवा के दीप्त स्वर सब दिशाओं में अशुभ होते हैं किन्तु दिन में विशेष कर अशुभ होते हैं। नगर या सेनाओं में दक्षिण भाग में स्थित सूर्योन्मुखी शिवा कष्ट देती है। यदि शिवा याहि शब्द करे तो अग्निभय, टाटा शब्द, करे तो मृत्यु, धिक्-धिक् शब्द करे तो अतिकष्ट एवं अग्नि की ज्वाला मुख से निकलने वाली शिवा देश नाश को सूचित करती है।[1]

श्वान, शृगाल, शृंगाली आदि चेष्टाओं के बाद आचार्य ने मृगों की चेष्टाओं का शुभाशुभ फल बताया है।

गायों की चेष्टाओं का फल बताते हुये लिखते हैं कि दीन गाय राजा को अमङ्गल करने वाली, अपने पांव से पृथवी को कुरेदने वाली गाय रोग करने वाली, अश्रुपूर्ण नेत्र वाली गाय स्वामी की मृत्यु करने वाली और डरकर अति शब्द करने वाली गाय, चोरों से भय कराने वाली होती है। यदि बिना कारण गाय शब्द करे तो अनर्थ और रात्रि में शब्द करे तो भय करती है। यदि बैल रात्रि में शब्द करे तो मङ्गलकारी होता है। यदि गाय बहुत मक्खियों या कुत्तों के बच्चों से घिर जाय तो शीघ्र वृष्टि करती है।[2] गायों की चेष्टा के अलावा घोड़ों की चेष्टाओं का फल घोड़े के कन्धे आदि का फल घोड़े के नासा रन्ध्र का फल, घोड़े के शब्द का फल, घोड़े के अन्य शुभ एवं अशुभ चेष्टाओं का फल बताया है। राजा के चढ़ जाने पर जो घोड़ा विनय

१- बृहत्संहिता ६० । ५-६

२- वही ६२ । १-२

से युक्त होकर जिस दिशा में राजा को जाने की इच्छा हो उसी दिशा में चले तथा अन्य घोड़े के शब्द करने पर शब्द करे या मुंह से अपने दक्षिण पार्श्व का स्पर्श करे तो शीघ्र स्वामी की लक्ष्मी की वृद्धि करता है ।[1]

हाथियों की चेष्टाओं का वर्णन करते हुए, गज दन्त का लक्षण कल्पित गज दन्त का शुभाशुभ फल आसन के समान शैय्या का फल हाथियों के अन्य शुभाशुभ फल हाथी के दन्त भंग का विशेष फल हाथियों की शुभ और अशुभ चेष्टाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । चलते हुए हाथी की गति अचानक रुक जाय, कान हिलना बन्द हो जाय, अत्यन्त दीनता पूर्वक सूंड को भूमि पर रख कर धीरे-धीरे लम्बे सांस लेकर चकित और अर्धोन्मीलित दृष्टि हो जाय, बहुत देर तक सोवे, उल्टा चलने लगे, अभक्ष्य वस्तु खाय तथा बहुत बार रक्त मिश्रित टट्टी करे तो भय करने वाला होता है ।[2]

हाथियों की शुभाशुभ चेष्टाओं के पश्चात् काकों की चेष्टा और उसका फल, घोंसले के सम्बन्ध से वृष्टि का ज्ञान, काकों की विशेषता, काकों के अन्य चेष्टायें, शान्त एवं पूर्व दिशा के वश काक के शब्द का फल, इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ईशान आदि के वश काकों के शब्द का

१- बृहत्संहिता ९३। १३
२- वही ९४ । १२

फल, कर्ण सम काक का फल, दक्षिण और बाम भाग के वश, काक का फल, बाम और दक्षिण भाग स्थित काक का फल गमन करने वाले के घर बैठे हुए काक का फल, स्निग्ध पत्र आदि पर स्थित काक का फल, पके हुए धान्य वाले स्थान आदि में स्थित काक का फल, गौ के पूंछ आदि पर स्थित, तृण राशि आदि पर स्थित कांटे दार वृक्ष आदि पर स्थित, ऊपर से कटे हुए वृक्ष आदि पर स्थित, मृत पुरुष आदि के अंगों पर स्थित काक का फल बताया है। यदि कौवा सफेद फूल, अपवित्र वस्तु और मांस को मुख में लेकर शब्द करे तो गमन करने वाले के अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है। पंखों को कंपाते हुए ऊपर को मुख करके बार-बार शब्द करे तो यात्रा में विघ्न होता है। कोई-कोई कहते हैं कि एक कोस चले जाने के बाद शकुन का फल निष्फल होता है। तथा यात्रा काल में यदि पहला शकुन अशुभ हो तो ग्यारह प्राणायाम और दूसरा शकुन अशुभ हो तो सोलह प्राणायाम करे। यदि तीसरा शकुन अशुभ हो तो घर लौट आवे।

-

ग्रह गोचर का वर्णन करते हुये आचार्य विभिन्न छन्दों के माध्यम से मनुष्य जीवन पर पड़ने वाले फलों का वर्णन किया है। मुख चपला वृत्ति से गोचर का कारण बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि बहुधा इस संसार में ग्रहगोचर का व्यवहार किया जाता है, इसीलिये अनेक छन्दों के द्वारा उसके फलों को कहता हूं आर्यगण हमारे मुख चापल्य को क्षमा करें। पुन: जघन चपला आर्या-वृत्त के माध्यम से अपनी नम्रता को प्रदर्शित करते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिन्होंने माण्डव्य ऋषि की वाणी सुनी है उनको मेरी वाणी अच्छी नहीं लगेगी अथवा इस तरह कहना भी उचित नहीं है क्योंकि अपनी साध्वी स्त्री उस प्रकार पुरुषों को प्रिय नहीं लगती जिस प्रकार जघन चपला प्रिय होती है। आचार्य वराहमिहिर से पूर्ववर्ती नारद, वशिष्ठ, पाराशरादि ऋषियों ने ग्रह-गोचर का अपनी संहिताओं में वर्णन किया है। नारद ने तो ग्रहों का वेध भी बताया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जो दैवज्ञ ग्रहों के वेध को बिना जाने फलादेश करता है वह लोगों के मध्य उपहास का पात्र बनता है।[१] नारद संहिता में ही वाम वेध की चर्चा की गयी है। वाम वेध होने पर अशुभ ग्रह भी शुभ फल

१- अज्ञात्वाविविधान् वेधान् यो ग्रहज्ञो फलं वदेत्।
स मृषा वचनाभ्यासी हास्यं याति नर: सदा॥
(नारदसंहिता १२। ६)

देने लगते हैं । वराहमिहिर से परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने वेध की महत्ता को स्वीकार किया है ।[१] चिन्तामणि मुहूर्तकार ने तो हिमालय से विन्ध्याचल के बीच में ही ग्रहों के वेध को स्वीकार किया है । उनका कहना है कि काश्यप के मतानुसार सभी देशों में वेध का प्रभाव नहीं पड़ता ।[२] किन्तु आचार्य वराहमिहिर ही ऐसे ज्योतिषी हुये हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी ग्रहों के वेध की चर्चा नहीं की है । केवल ग्रहों के गोचर का शुभाशुभ फल ही बताया है । वितान छन्द के माध्यम से गोचर फल के भेद को बताते हुये लिखते हैं कि जिस तरह बसन्त काल में मेघ समुदाय से बहुत जल की वृष्टि होने पर भी कुडव में बहुत जल नहीं होता है उसी तरह शुभ करने वाला ग्रह काल एवं पात्र के अनुरूप फल करता है ।[३]

शार्दूल विक्रीडित छन्द से सभी ग्रहों का एक साथ गोचरीय फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि जन्मराशि से छठी, तीसरी या दशवी राशि में सूर्य, तीसरी, दशवीं, छठी, सातवीं एवं पहली राशि में चन्द्रमा, दूसरी, पांचवी, सातवीं, नौवीं में गुरु, छठी, तीसरी में मंगल, शनि, दूसरी, चौथी

१- बृहद्दैवज्ञरञ्जनम्

२- मुहूर्त चिन्तामणि, चतुर्थ प्रकरण, श्लोक ५

३- बृहत्संहिता, अध्याय १०४ । ४६

आठवीं, दशवी में बुध, ग्यारहवीं में सभी ग्रह शुभ होते हैं । छन्द का समापन करते हुये आचार्य कहते हैं कि छठी-सातवीं एवं दशवीं राशि में स्थित शुक्र सिंह की तरह भय करने वाला होता है ।

पुन: स्रग्धरा वृत्त के द्वारा सूर्य के जन्मराशि द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ राशि में स्थित होने का फल बताया है । सुवदना वृत्त के द्वारा पंचम, षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम राशिगत तथा सुवृत्त छन्द के माध्यम से नवम् दशम्, एकादश एवं द्वादश राशिगत सूर्य का फल वर्णित किया है । इसी तरह शिखरणी छन्द के द्वारा चन्द्रमा के जन्मराशि, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ राशि का फल तथा मन्दाक्रान्ता छन्द के माध्यम से पञ्चम, षष्ठ, सप्तम् एवं अष्टम् एवं वृषभ चरित छन्द के द्वारा नवम् दशम् एकादश एवं द्वादश राशिगत चन्द्रमा का फल कहा है ।[१] इसी प्रकार उपेन्द्रवज्रा छन्द के माध्यम से जन्मराशि एवं द्वितीय में स्थित मङ्गल का फल एवं उपजाति के द्वारा तृतीय राशि का फल, प्रसभ छन्द से चतुर्थ राशि का फल, मालती छन्द से पञ्चम् राशि का फल अपर वक्त्रा छन्द से षष्ठ राशि का फल, विलम्बित गति छन्द के द्वारा सप्तम, अष्टम् एवं नवम् राशि का फल सुपुष्पित ताग्रा छन्द से दशम एवं एकादश राशि का फल तथा इन्द्रवंशा छन्द

१- बृहत्संहिता १०४।१०

के द्वारा द्वादश राशिगत मङ्गल के फलों का वर्णन किया है ।

इसी प्रकार स्वागता छन्द के द्वारा बुध का गोचरीय फल वर्णन करते हुये, जन्म राशि का फल, द्रुतपद छन्द के द्वारा द्वितीय एवं तृतीय राशि का फल रुचिरा छन्द के द्वारा चतुर्थ एवं पञ्चम राशि का फल, प्रहर्षिणीय छन्द के द्वारा षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम राशि का फल, दोधक छन्द के द्वारा नवम् एवं दशम राशि का फल, मालिनी के द्वारा एकादश एवं द्वादश राशिगत बुध का फल बताया है । तदनन्तर आचार्य वराहमिहिर ने बृहस्पति का गोचरीय फल बताते हुये सर्वप्रथम भ्रमरविलासिता छन्द के द्वारा जन्मराशि और द्वितीय राशि का तथा मत्तमयूर छन्द के द्वारा तृतीय एवं चतुर्थ राशि का मणिगुणनिकर छन्द के द्वारा पञ्चम राशि का, हरिणप्लुत छन्द के द्वारा षष्ठ राशि का और ललितपद छन्द के द्वारा सप्तम राशि का, शालिनी छन्द के द्वारा अष्टम एवं नवम् राशि का तथा रथोद्धता छन्द के द्वारा दशम एकादश और द्वादश राशिगत बृहस्पति का शुभाशुभ फल बताया है ।[१]

पुन: शुक्र के गोचरीय फल का वर्णन करते हुये आचार्य सर्वप्रथम विलासिनी छन्द के द्वारा जन्म राशि का वसन्ततिलका छन्द के द्वारा द्वितीय राशि का इन्द्र वज्रा छन्द के द्वारा तृतीय एवं चतुर्थ राशि का अपरवक्त्रा छन्द के द्वारा पञ्चम राशि का लक्ष्मी छन्द के द्वारा षष्ठ सप्तम एवं अष्टम राशि

१- बृहत्संहिता १०४ । ३१

का प्रमिताक्षरा के द्वारा, नवम् एवं दशम राशि का, स्थिर छन्द के द्वारा एकादश एवं द्वादश राशिगत शुक्र के शुभाशुभ फलों का वर्णन किया है। तदनन्तर शनि के शुभाशुभ गोचरीय फल का वर्णन करते हुये, आचार्य वराहमिहिर तोटक छन्द के द्वारा जन्मराशि का, वंशपत्रपतित छन्द के द्वारा द्वितीय राशि का, ललिता छन्द के द्वारा तृतीय राशि का भुजङ्गप्रयात छन्द के द्वारा चतुर्थ राशि का, मुद्रा छन्द के द्वारा पंचम एवं षष्ठ राशि का वैश्वदेवी छन्द के द्वारा सप्तम अष्टम एवं नवम् राशि का, उर्मिमाला छन्द के द्वारा दशम एकादश एवं द्वादश राशिगत शनि के शुभाशुभ फलों का वर्णन किया है।[1]

भुजङ्ग विजृम्भित छन्द के द्वारा अशुभ स्थान स्थित ग्रहों की शान्ति का उपाय बताया है। उद्गता छन्द के द्वारा ग्रह पूजा की प्रशंसा करते हुये आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि देवता एवं ब्राह्मणों की पूजा से शान्ति, मंत्रजप, नियम, दान और जितेन्द्रियता से तथा सुजनों से भाषण एवं उनके साथ समागम से अशुभ दृष्टिजन्य (गोचरोक्त सम्पूर्ण) दोषों का नाश होता है।[2] पुन: प्रत्येक ग्रहों का फल प्रदान करने का समय बतलाते हुये सर्वप्रथम गीति एवं उपगीति छन्द के माध्यम से सूर्य मङ्गल चन्द्रमा एवं

१- बृहत्संहिता १०४ । ४५

२- वही १०४ । ४८

शनि के फल प्रदान का काल बताते हुये लिखते हैं कि सूर्य एवं मङ्गल राशि के पुर्वार्द्ध में चन्द्रमा एवं शनि राशि के अन्त में शुभाशुभ फल देते हैं। इसी श्लोक के माध्यम से गीति एवं उपगीति का भी लक्षण कर देते हैं। पुन: उपगीति आर्या के द्वारा बुध का फल प्रदान काल तथा आर्या छन्द के द्वारा बृहस्पति का फल प्रदान का समय बताया है। ग्रहों के वेध को प्रकारान्तर रूप से फल बताते हुये गोचर फल का निष्फलत्व बताते हुये लिखते हैं कि जैसे संस्कृत में नरकुटक, प्राकृत में गीतक ये दोनों छन्द समान प्रस्तार वाले हैं उसी तरह बली शुभ फल देने वाला ग्रह, बली अशुभ फल देने वाले ग्रह, और बली अशुभ फल देने वाला ग्रह, बली शुभ फल देने वाले ग्रह से दृष्ट हो तो अपने-अपने शुभ और अशुभ फलों की समता करते हैं।[1]

पुन: विलास छन्द के द्वारा निर्बल ग्रहों के शुभ फलों की निष्फलता तथा बुध ग्रह का शुभ ग्रह से युत शुभ फल, पाप ग्रह से युत पाप फल बताया है, उसके पश्चात् पथ्या छन्द के द्वारा अस्तगत शनि का अतिशय अशुभ फल तथा वक्त्र छन्द के द्वारा, ग्रहयुत चन्द्र का विशेष फल, श्लोक छन्द के द्वारा दु:स्थित ग्रहों से मनुष्यों की लघुता अनुष्टुप छन्द के द्वारा सुस्थित ग्रहों से मनुष्यों की सुस्थितता तथा वैताली छन्द के द्वारा

१- बृहत्संहिता १०४। ५२

असुस्थित गृहों के आने पर प्रारम्भ किया हुआ कर्म कर्ता का घातक,औप-च्छन्दसिक छन्द के द्वारा सुस्थित गृह आने पर स्वल्प प्रयत्न से कार्य की सिद्धि आदि का वर्णन किया है । पुन: इसी प्रकार दण्डक छन्द के माध्यम से प्रत्येक वार में पृथक-पृथक विहित कर्मों का वर्णन किया है जैसे- सूर्यवार के दिन सोना, तांबा, घोड़ा, लकड़ी, हड्डी, चमड़ा, ऊनी वस्त्र,पर्वत, वृक्ष, त्वचा, शुक्ति, सर्प, चोर, खड्ग, सम्बन्धी, वन, क्रूर, राजा का आराधन, राजा आदि का अभिषेक, औषध, कार्य, क्रय-विक्रय आदि, वन में हुये द्रव्यों के ग्रहण पोषण आदि, गोपाल मरुभूमि, वैद्य, पत्थर, दम्भ, सत्कुलोत्पन्न, कीर्तियुक्त शूर, युद्ध में कथनीय, गमनशील, अग्नि कर्म इन सब वस्तुओं से सम्बन्धी कर्मों की सिद्धि होती है ।[1]

इसी प्रकार दण्डक छन्द के द्वारा चन्द्र वार में विहित कर्म तथा, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनिवार में विहित कर्मों को पृथक-पृथक रूप में बताया है ।[2]

१- बृहत्संहिता १०४ । ६० $\frac{१}{४}$

२- वही १०४ । ६२-६३

पञ्चम अध्याय

-0-

फलित (जातक) ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर का योगदान

(क) नक्षत्रों, राशियों एवं ग्रह सम्बन्धी विषयों में आचार्य वराहमिहिर की अवधारणा ।

(ख) वियोनिजन्म निषेक तथा सूतिकादि विषयों में आचार्य का योगदान ।

(ग) जातकारिष्ट, आयु तथा दशादि विषयों में आचार्य का स्वमत ।

(घ) अष्टकवर्ग, कर्माजीव, राजयोग तथा नाभसादि योगों के विषय में आचार्य की मान्यताएं ।

(ङ०) चन्द्रादियोग द्वित्रो ग्रहयोग एवं प्रव्रज्या आदि योगों के कथन में आचार्य का विशेष योगदान ।

(च) विभिन्न नक्षत्रों, राशियों एवं ग्रहराशिशीलों का आचार्य सम्मत फलादेश ।

(छ) ग्रह दृष्टि भाव एवं आश्रययोगादि फल ।

(ज) कारकसंज्ञक-ग्रह उनका प्रयोजन अनिष्टादि वर्णन तथा स्त्री जातकादि सम्बन्धी विषयों का वर्णन ।

(झ) निर्याणादि, नष्टजातक तथा द्रेष्काण के स्वरूपादि विषयों का विवेचन ।

-

पञ्चम अध्याय

-०-

फलित (जातक)ज्योतिष के आचार्य वराहमिहिर का योगदान

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के तीनों स्कन्धों में फलित-स्कन्ध व्यवहार में सर्वाधिक श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि फलित ज्योतिष के माध्यम से जातक के जीवन सम्बन्धी सभी विषयों का विशद वर्णन मिलता है। आचार्य वराहमिहिर से पूर्ववर्ती फलित ज्योतिष के १८ आचार्यों का उल्लेख ज्योतिष ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[१] इन आचार्यों में से अधिकांश आचार्यों के ग्रन्थ का पता नहीं चलता है। कतिपय आचार्य जैसे- पाराशर, यवन, वृद्धयवन, जैमिनि, इत्यादि के ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं।

आचार्य वराहमिहिर से पूर्व भारतीय ज्योतिष का सुव्यवस्थित स्वरूप नहीं था। किन्तु प्रश्न, मुहूर्त एवं शकुन इत्यादि विषयों का स्वरूप उस समय स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण, वेदांग-ज्योतिष, वाल्मीकीयरामायण इत्यादि में प्रश्न, मुहूर्त एवं शकुनों का पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता है।[२] आचार्य वराहमिहिर से पूर्ववर्ती आर्यभट तथा लल्ल आदि आचार्यों ने सिद्धान्तज्योतिष पर ही विचार

१- सूर्यः पितामहो व्यासः वशिष्ठोऽत्रिः पराशरः।

बृहत्संहिता - अच्युतानन्द झा की टीका की भूमिका, पृ० २

२- निमित्तं लक्षणं स्वप्नं शकुनि स्वर दर्शनम्।

अवश्यं सुख दुःखेषु नराणां परिदृश्यते ॥

वाल्मीकीयरामायण (३।५२।२)

किया था । किन्तु वराहमिहिर ही एक ऐसे प्रख्यात ज्योतिषी हुए जिन्होंने ज्योतिष के सम्पूर्ण अंगों का विधिवत विवेचन किया है । आचार्य के सिद्धान्त एवं संहिता सम्बन्धी योगदान का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।[1] इस अध्याय में आचार्य के फलित सम्बन्धी प्रश्न, जातक मुहूर्त, होरा, शकुन तथा अन्यान्य विषयों पर विवेचन किया गया है । फलित ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बृहज्जातक मिलता है । ज्योतिष के परवर्ती आचार्यों ने इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[2] कुछ आचार्यों ने तो यहां तक कहा है कि जो ज्योतिषी इस ग्रन्थ का सम्यक् अध्ययन करके फलादेश करता है उसकी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं होती । बृहज्जातक के अतिरिक्त आचार्य के लघुजातक, योगयात्रा, बृहत्योगयात्रा, विवाहपटल, बृहत्विवाह पटल तथा जातकार्णव इत्यादि ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि जातकार्णव ग्रन्थ काठमांडु के वीरपुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में आज भी

१- देखें -पूर्व अध्याय ३ एवं ४

२- भावकुतुहलजातक संज्ञाध्याय श्लोक ४

तथा सारावली १। २ आदि, बुद्धिदीपिका १।२

उपलब्ध है ।[१]

महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने अपनी गणकतरंगिणी नामक पुस्तक में लिखा है कि समाससंहिता एवं विवाहपटल ये दो ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं ।[२] अत्यधिक प्रयास के पश्चात् भी वह ग्रन्थ मुझे भी आज तक देखने को नहीं मिल सका । योगयात्रा ग्रन्थ उपलब्ध है पर बृहत्योगयात्रा लुप्तप्राय है । पी० वी० काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास चतुर्थ भाग में बृहत्योगयात्रा के अधिकांश श्लोकों का उल्लेख किया है ।[३] इससे यह सिद्ध हो जाता है कि बृहत्योगयात्रा नामक ग्रन्थ अवश्य ही मूलरूप में था भले ही वह आज लुप्त हो गया है । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य कुछ और ग्रन्थों का उल्लेख पं० अवध बिहारी त्रिपाठी ने बृहत्संहिता की टीका की भूमिका में किया है ।

सर्वप्रथम आचार्य वराहमिहिर होरा शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं कि होरा शब्द अहोरात्र शब्द से निष्पन्न होता है । अहोरात्र शब्द के आदि एवं अन्त के वर्णों का लोप कर देने से होरा शब्द बनता है,

---

१- संस्कृतशास्त्रों का इतिहास, पृ० १२०

२- गणकतरंगिणी, पृ० २२

३- धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ३०६

जो कि २४ घन्टे का बोधक है । यह होरा पूर्व जन्म में अर्जित प्राणियों के शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल को प्रकाशित करता है।[१] पाराशर ने अहोरात्र की व्युत्पत्ति इसी ढंग से की है।[२]

राशियों के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि सभी राशियां अपने नाम के सदृश स्वरूप वाली हैं जैसे मेष राशि मेढ़ के समान, वृष राशि बैल के समान, कर्क राशि - केकड़े के समान, सिंह राशि शेर के समान और वृश्चिक राशि- बिच्छू के समान होती है । मीन, कुम्भ, मिथुन, तुला एवं कन्या राशि के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं कि परस्पर दो मछलियों में एक के मुख में दूसरे की पूंछ मिलाकर जो स्वरूप होता है वही मीन राशि का स्वरूप है । कुम्भ राशि का स्वरूप एक ऐसे पुरुष के सदृश है जिसके कन्धे पर एक घड़ा रखा है । मिथुन राशि स्त्री-पुरुष का जोड़ा है । पुरुष के हाथ में गदा तथा स्त्री के हाथ में वीणा है । धनु राशि कमर से ऊपर हाथ में धनुष धारण किए हुए पुरुष के समान कमर से नीचे घोड़े के समान जघन वाली है । हरिण के सदृश मुख वाला

१- बृहज्जातक - १ श्लोक ३

२- बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - अध्याय २, श्लोक २

मकर राशि का स्वरूप है । तुलाराशि हाथ में तराजू लिए हुए पुरुष के समान तथा कन्याराशि एक हाथ में अग्नि तथा दूसरे हाथ में अन्न लेकर नाव पर बैठी हुई कन्या के समान है ।[१]

आचार्य पाराशर ने भी थोड़े बहुत अन्तर के साथ राशियों के स्वरूप का वर्णन किया है ।[२] मेषादि राशियों के नामों को आचार्य वराहमिहिर ने पाश्चात्य नामों से अभिहित किया है ।[३] पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति वराहमिहिर ने भी ग्रहों के द्रेष्काण, होरा, नवमांश, त्रिंशांश, द्वादशांश एवं गृह आदि षड्वर्गों का उल्लेख किया है । रात्रिबली एवं दिनबली राशियों का विभाग करते हुए आचार्य ने वृष, मेष, धनु, कर्क, मिथुन, मकर इन राशियों को रात्रिबली तथा शेष छः को दिनबली माना है । इसी प्रकार पृष्ठोदय, शीर्षोदय एवं उभयोदय राशियों का भी उल्लेख किया है । रात्रिबली राशियों में मिथुन राशि को छोड़कर अन्य शेष राशियाँ पृष्ठोदय हैं तथा शेष में मीन उभयोदय राशि है तथा शेष सभी शीर्षोदय राशि हैं । आचार्य वराहमिहिर से परवर्ती कतिपय आचार्यों ने

१- बृहज्जातक - अध्याय १, श्लोक - ५

२- बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - राशिप्रभेदा अध्याय

३- बृहज्जातक अध्याय १, श्लोक - ८

मिथुन एवं मीन दोनों को उभयोदय राशि स्वीकार किया है।[१] पराशर ने मिथुन राशि को शीर्षोदय माना है।[२]

आचार्य ने मेषादि राशियों को क्रमश: क्रूर राशि एवं सौम्य राशि, पुरुषराशि एवं स्त्रीराशि तथा चर, स्थिर एवं द्विस्वभाव स्वीकार किया है जैसे मेष को क्रूर तथा पुरुष राशि एवं चर संज्ञक तथा वृषराशि को सौम्य स्त्रीराशि तथा स्थिर संज्ञक इसी प्रकार मिथुन राशि को क्रूर पुरुषसंज्ञक एवं द्विस्वभाव संज्ञक माना है। ग्रहों के उच्च एवं नीच राशियों का विभाजन पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों की भांति किया है। ज्योतिष-शास्त्र के प्राय: सभी आचार्य ग्रहों के उच्चादि विषयों में एकमत हैं। लग्नादि द्वादशभावों का क्रमश: तनु, कुटुम्ब, सहोत्थ, बन्धु, पुत्र, अरि, पत्नी, मरण, शुभ, आस्पद, आय और रिष्फ आदि नामकरण आचार्य ने किया है। इन भावों में तृतीय, षष्ठ, दशम एवं एकादश भावों की उपचय संज्ञा तथा शेष अन्य भावों की अपचय संज्ञा प्रदान की है।[३] गर्ग आदि आचार्यों ने भी इन्हीं भावों को उपचय एवं अपचय संज्ञा की है।[४] यवनाचार्य

१- फलदीपिका १। ८

२- बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - अध्याय २, श्लोक ६

३- बृहज्जातक - अध्याय १, श्लोक - १५

४- अथोपचय संज्ञास्यात् त्रिलाभरिपुकर्मणाम् - गर्गसंहिता

ने भी इन्हीं भावों की ही उपचय एवं अपचय संज्ञा की है ।[१] लग्नादि भावों की कण्टकादि संज्ञा करते हुए सप्तम लग्न चतुर्थ और दशम भावों की कण्टक केन्द्र एवं चतुष्टय संज्ञा प्रदान की है । इनमें कीट मनुष्य, जलचर और पशु राशि बलवान् होती है । पुन: द्वितीय, पंचम, अष्टम और एकादश भावों की पणाफर संज्ञा तथा तृतीय, षष्ठ, नवम् और द्वादश भावों की आपोक्लिम संज्ञा चतुर्थ भाव की हिबुक, अम्बु, सुख और वेश्म संज्ञा, जामित्र,अस्त सप्तम भाव की संज्ञा, पंचम भाव की त्रिकोणसंज्ञा तथा मेषूरण और कर्म को दशम भाव की संज्ञा प्रदान की है । मेषादि द्वादश राशियों के वर्णों का वर्णन करते हुए आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि मेष का वर्ण लाल, वृष का श्वेत, मिथुन का हरा, कर्क का थोड़ा लाल, सिंह का थोड़ा श्वेत, कन्या का अनेक वर्ण, तुला का काला, वृश्चिक का सुवर्ण के समान, धनु का पीला, मकर का चितकबरा, कुम्भ का नकुल के सदृश और मीन का मछली के सदृश वर्ण है ।[२]

ग्रहों के स्वरूप एवं कालपुरुष के आत्मादि विभाग करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने सूर्य को काल-पुरुष की आत्मा तथा चन्द्रमा को

१- षष्ठं तृतीयं दशमं च राशिमेकादशं चोपचयमाहु: ।
होरागृहस्थानशशाङ्कभेभ्य: शेषाणि तेभ्योऽपचयात्मकानि ।।

- यवन जातक

२- बृहज्जातक - अध्याय १, श्लोक २० ।

मन, मंगल को पराक्रम, बुध को वाणी, बृहस्पति को ज्ञान और सुख,शुक्र को काम तथा शनि को दु:ख की संज्ञा प्रदान की है।[१] सारावलीकार कल्याणवर्मा ने वराहमिहिर के ही मत को स्वीकार किया है।[२] आचार्य वराहमिहिर फलित ज्योतिष सम्बन्धी विषयों में कहीं भी राहु एवं केतु की चर्चा नहीं करते किन्तु उनसे परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में राहु एवं केतु को सम्मिलित किया है। कालपुरुष के आत्मादि विभाग में कल्याणवर्मा ने राहु एवं केतु को सदृश ही बताया है। महर्षि पाराशर का भी यह मत है। आचार्य वराहमिहिर ने सूर्य एवं चन्द्रमा को राजा,बुध को राजकुमार, मंगल को सेनापति, गुरु एवं शुक्र को मंत्री एवं शनि को भृत्य संज्ञा प्रदान की है। महर्षि पराशर ने सूर्य और चन्द्रमा को राजा, मंगल को नेता, बुध को राजकुमार, गुरु एवं शुक्र को मंत्री, शनि को दास तथा राहु और केतु को सेना स्वीकार किया है।[३] प्रकारान्तर से कल्याण वर्मा ने भी इसी बात को स्वीकार किया है।[४] ग्रहों के कतिपय पर्यायों की

१- बृहज्जातक - अध्याय २, श्लोक १

२- सारावली - चतुर्थ अध्याय, श्लोक १

३- बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् - अध्याय ३, श्लोक ३-४

४- सारावली - अध्याय ४, श्लोक ७

चर्चा करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने सूर्य को हेलि, चन्द्रमा को शीत-रश्मि, बुध को हेम्ना, विद्र और बोधन, मंगल को आर, वक्र क्रूर, त्रिक, अवनेय, शनि को कोण, मंद और असित, बृहस्पति को जीव, अंगिरा, सुरगुरु, वचसांपति और इज्य शुक्र को भृगु, भृगुसुत, सित और आस्फुजित, राहु को तम, अगु और असुरसंज्ञा तथा केतु को शिखी संज्ञा प्रदान की है ।

ग्रहों के वर्ण एवं उनके स्वामियों की चर्चा करते हुए आचार्य ने सूर्य का लालवर्ण, चन्द्रमा का श्वेत, मंगल का अतिलाल, बुध हरे वर्ण का, बृहस्पति का पीत, शुक्र अनेक मिश्रित वर्ण का तथा शनि को कृष्णवर्ण का माना है । सारावलीकार भी इसी बात को स्वीकार करते हैं ।[१] आचार्य वराहमिहिर ने सूर्य का स्वामी अग्नि, चन्द्र का जल, मंगल का कार्तिकेय, बुध का विष्णु, बृहस्पति का इन्द्र, शुक्र की इन्द्राणी और शनि का स्वामी ब्रह्मा माना है ।[२] ग्रहों को नपुंसकादि संज्ञा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि बुध एवं शनि नपुंसक संज्ञक, शुक्र एवं चन्द्रमा स्त्री संज्ञक तथा शेष ग्रह सूर्य, मंगल और बृहस्पति आदि पुरुष संज्ञक ग्रह हैं । मंगल आदि पांच ग्रहों को अग्नि, पृथवी, आकाश, जल एवं वायु इन पांच तत्वों का स्वामी माना है । प्रकारान्तर

१- सारावली - अध्याय ४, श्लोक १२

२- बृहज्जातक २। ५

से आचार्य वराहमिहिर से पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी आचार्यों ने ग्रहों की इन्हीं नपुंसकादि संज्ञाओं को स्वीकार किया है । आचार्य ने शुक्र और गुरु को ब्राह्मण, मंगल एवं सूर्य को क्षत्रिय, चन्द्रमा और बुध को वैश्य तथा शनि को शूद्र का स्वामी माना है । आचार्य वराहमिहिर से परवर्ती सभी आचार्यों ने इसी बात को स्वीकार करते हुए राहु को म्लेच्छों का स्वामी बताया है । ग्रहों के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने सूर्य का शहद के समान पीला नेत्र, चतुरस्र, पित्त-प्रकृति एवं थोड़े केश वाला, तथा चन्द्रमा को दुर्बल एवं गोलशरीर, वात एवं कफ प्रकृति, बुद्धिमान, कोमल वचन वाला एवं सुन्दर नेत्र वाला, मंगल को टेढ़ी दृष्टि, बलवान, उदारचित्त, पित्तप्रकृति, चंचल स्वभाव और पतलीली कमर का, बुध को गद्गद् वाणी, सर्वदा हास्य में रुचि, कफ, वात एवं पित्त तीनों प्रकृति का बृहस्पति को लम्बीदेह, पीले बाल, पीली आंख, उत्तम बुद्धि एवं कफ प्रकृति का, शुक्र को सुखी, सुन्दर शरीर, सुन्दर आंख, काम और वात प्रकृति, काले बाल और कुटिलस्वरूप का तथा शनि को आलसी पीली आंख, पतला व लम्बा शरीर, मोटे दांत, रूखे बाल और वायु प्रकृति का कहा है ।[१]

ग्रहों के स्थान और वस्त्रादि का वर्णन करते हुए आचार्य

१- बृहज्जातक २।८,६, १०

लिखते हैं कि सूर्य का देव स्थान, चन्द्रमा का जल स्थान, मंगल का अग्नि स्थान, बुध का क्रीडास्थान, बृहस्पति का कोश, शुक्र का शयनस्थान, शनि का ऊसर स्थान है । सूर्य का वस्त्र मोटा, चन्द्रमा का नया, मंगल का अग्निदग्ध, बुध का जल से निचोडा, बृहस्पति का मध्यम, शुक्र का मजबूत, शनि का पुराना वस्त्र है ।[१] ग्रहों की दृष्टि सम्बन्धी विषयों में सभी आचार्य वराहमिहिर से सहमत हैं । ग्रहों के काल और रस का निर्देश करते हुए आचार्य सूर्य से अयन का, चन्द्रमा से मुहूर्त- मंगल से दिन, बुध से ऋतु, बृहस्पति से मास, शुक्र से पक्ष, तथा शनि से वर्ष का निर्देश किया है । रसविषयक वर्णन करते हुए सूर्य से कडुआ, चन्द्रमा से लवण, मंगल से तिक्त, बुध से मिश्रितरस, बृहस्पति से मधुर, शुक्र से खट्टा और शनि से कषाय रस की चर्चा की है ।[२] सूर्यादि ग्रहों के परस्पर नैसर्गिक मित्र-शत्रु के वर्णन-प्रसंग में सर्वप्रथम आचार्य वराहमिहिर ने सत्याचार्य एवं यवनाचार्य के मतों का उल्लेख किया है । सत्याचार्य के मत से सूर्यादि सब ग्रहों के अपने-अपने मूलत्रिकोण-भवन से द्वितीय, द्वादश, पंचम, नवम, अष्टम और चतुर्थ स्थान के स्वामी तथा अपने-अपने उच्च स्थान के स्वामी मित्र होते हैं तथा इसके अतिरिक्त अन्य

१- बृहज्जातक - अध्याय २, श्लोक १२

२- बृहज्जातक २ । १४

स्थानों के स्वामी परस्पर शत्रु होते हैं ।

आचार्य वराहमिहिर ग्रहों के नैसर्गिक मित्रादि का वर्णन करते हुए अपना मत बताते हैं । आचार्य ने सूर्य के शुक्र एवं शनि को शत्रु, बुध को सम तथा शेष ग्रह चन्द्रमा, मंगल एवं गुरु को मित्र, चन्द्रमा के सूर्य और बुध मित्र, शेष सभी ग्रह सम, मंगल के गुरु चन्द्रमा और सूर्य मित्र, बुध शत्रु, शुक्र और शनि को सम, बुध के सूर्य और शुक्र मित्र चन्द्रमा शत्रु तथा शेष ग्रहों को सम, बृहस्पति के बुध और शुक्र शत्रु, शनि, सम, शेष ग्रह मित्र, शुक्र के बुध और शनिमित्र, मंगल और बृहस्पति सम,शेष ग्रहों को शत्रु तथा इसी प्रकार शनि के शुक्र और बुध मित्र, बृहस्पति सम एवं अन्य ग्रह सूर्य चन्द्रमा और मंगल को शत्रु स्वीकार किया है ।[१] पुन: ग्रहों के तात्कालिक मैत्री भाव का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि जिस स्थान में ग्रह हो उससे द्वितीय, द्वादश, एकादश, तृतीय, दशम और चतुर्थ स्थान में स्थित ग्रह परस्पर तात्कालिक मित्र होते हैं तथा शेष स्थानों में स्थित ग्रह परस्पर तात्कालिक शत्रु होते हैं ।

ग्रहों के शत्रु मित्रादि का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य वराहमिहिर ग्रहों के (स्थानबल, दिग्बल, चेष्टाबल, कालबल,नैसर्गिकबल)

१- बृहज्जातक २। १७

का उल्लेख करते हैं । स्थानबल का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जो ग्रह अपने उच्च में अपने मित्र के घर में अपने मूल त्रिकोण में, अपने नवांश में और अपनी राशि में स्थित हो वह स्थानबली कहलाता है । इसी प्रकार पूर्व आदि चारों दिशाओं में एवं लग्नादि चारों केन्द्रस्थानों में क्रम से बुध, बृहस्पति, सूर्य मंगल, शनि, शुक्र और चन्द्रमा बली होते हैं ।[1] कल्याणवर्मा ने भी ग्रहों के स्थानबल और दिग्बल वराहमिहिर की भांति स्वीकार किया है ।[2] यवनेश्वर ने भी ग्रहों के स्थानबल और दिग्बल को इसी रूप में स्वीकार किया है ।[3] चेष्टाबल का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा उत्तरायण में (मकरादि छः राशियों के सूर्य में) बली होते हैं । शेष ग्रह वक्री हों या चन्द्रमा से युक्त हों तो बली होते हैं । ग्रहों का सूर्य से संयोग हो तो अस्त और चन्द्रमा से संयोग हो तो समागम कहलाता है ।[4] आचार्य कल्याणवर्मा का कथन है कि जो ग्रह युद्ध में विजयी हो जो वक्रगति हो, जिन ग्रहों की किरणें सम्पूर्ण हो वे ग्रह चेष्टाबली होते हैं । सूर्य और

१- बृहज्जातक २। १६

२- सारावली ४ । ३५

३- यवनजातक

४- बृहज्जातक २। २०

चन्द्रमा उत्तरायणबली होते हैं । यह सत्याचार्य का मत है ।[१]

आचार्य वराहमिहिर के मत से चन्द्रमा, मंगल और शनि रात्रि में बली होते हैं । बुध रात और दिन दोनों में बली होता है । सूर्य बृहस्पति और शुक्र दिन में बली होते हैं । कृष्णपक्ष में पापग्रह तथा शुक्लपक्ष में शुभग्रह बली होते हैं । जिस वर्ष का अधिपति जो ग्रह होता है वह उस वर्ष में बली होता है । जिस दिन का जो ग्रह अधिपति है वह उस दिन में बली होता है । बृहत्पाराशर होराशास्त्र में भी इसी प्रकार कालबल बताया गया है ।[२] नैसर्गिक बल के सम्बन्ध में आचार्य का कथन है कि शनैश्चर, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, चन्द्रमा और सूर्य क्रम से उत्तरोत्तर बली होते हैं अर्थात् शनि से मंगल, मंगल से बुध, बुध से बृहस्पति, बृहस्पति से शुक्र, शुक्र से चन्द्रमा और चन्द्रमा से सूर्य बली होता है ।[३] सारावली में भी ग्रहों का नैसर्गिक बल इसी प्रकार बताया गया है ।[४] बृहत्पाराशर होराशास्त्र[५] तथा अन्य फलित-ज्योतिष के सभी ग्रन्थों में ग्रहों के बल इसी रूप में बताए गए हैं ।[६]

१- सारावली ४। ३६

२- बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् ३। २५, २६

३- बृहज्जातकम् २। २१

४- सारावली ४।४०

५- बृहत्पाराशर होराशास्त्र ३। २७

६- जातकपारिजातम्, जातकदीपिका आदि ।

वियोनि जन्म[१] के ज्ञान के प्रकार का वर्णन करते हुए आचार्य सर्वप्रथम जन्म से अथवा प्रश्न काल से जातक किस योनि का है इसका निरूपण किया है । आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि जन्मकालिक कुंडली अथवा प्रश्न-कालिक कुंडली में सभी पापग्रह बली हों तथा सभी शुभग्रह निर्बल हों तथा नपुंसक संज्ञक ग्रह केन्द्रस्थ हों तो वियोनि का जन्म समझना चाहिए अथवा चन्द्रमा पाप ग्रह के द्वादशांश में हो शुभग्रह बलरहित हों, बुध या शनि लग्न को देखता हो तो वियोनि का जन्म समझना चाहिए[२]। आचार्य कल्याण-वर्मा ने भी बृहज्जातक के इसी मत की पुष्टि की है[३]। आचार्य वैद्यनाथ का कथन है कि बलवान् पाप ग्रह अपने नवांश में हों, शुभ ग्रह निर्बल हों तथा दूसरे के नवांश में स्थित हो और लग्न वियोनि संज्ञक (मेष, वृष, कर्क और वृश्चिक) हों तो चन्द्रमा के द्वादशांश के सदृश वियोनि समझना चाहिए[४]। वियोनिजन्म ज्ञान को सुस्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि बली पापग्रह अपने नवांश में हों, निर्बल शुभग्रह दूसरे ग्रहों के नवांश में हों

१- वियोनि इस शब्द से पशु-पक्षी कीट, जलचर और पेड़ पौधे इत्यादि का संकेत है ।

२- बृहज्जातक ३। १

३- सारावली ५३ । ४, ५

४- जातकपारिजात ३।२

और वियोनि संज्ञक लग्न में से कोई लग्न हो तो चन्द्रमा जिस वियोनि संज्ञक राशि के द्वादशांश में स्थित हो उसके सदृश वियोनि का जन्म होता है । आचार्य वराहमिहिर का मत है कि जिस तरह राशि के वश नराकार कालरूप पुरुष का अंग विभाग होता है उसी तरह वियोनि में श्रेष्ठ चतुष्पद का राशि के वश अंग विभाग होना चाहिए ।[१] वियोनि के वर्ण का ज्ञान कराते हुए आचार्य कहते हैं कि आधान-कालिक, प्रश्नकालिक अथवा जन्मकालिक कुण्डली के लग्न में जो ग्रह वर्तमान हो उसी ग्रह के अनुरूप उस जन्तु विशेष का भी वर्ण होता है । अगर लग्न में कोई ग्रह न हो तो जो ग्रह लग्न को सर्वाधिक दृष्टि से देखता हो उसी ग्रह के वर्ण के अनुरूप उस जन्तु विशेष का वर्ण होता है । यदि लग्न किसी भी ग्रह से युत या दृष्ट नहीं है तो लग्न में स्थितराशि के नवांश के सदृश वर्ण वाला जन्तु होता है । यदि बहुत ग्रहों से लग्न युत है तो अनेक वर्ण वाला जन्तु होता है ।[२] आचार्य कल्याण वर्मा ने भी प्रकारान्तर से इसी बात को स्वीकार किया है ।[३] पशु-पक्षी के जन्म के ज्ञान को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि

१- बृहज्जातक ३।३

२- वही ३।४

३- सारावली ५३ । १३, १४

पक्षी के द्रेष्काण (मिथुन का दूसरा द्रेष्काण, सिंह का पहला द्रेष्काण, तुला का दूसरा द्रेष्काण तथा कुंभ का पहला देष्काण) लग्न में हो और शनि अथवा चन्द्रमा से युत या दृष्ट हो तो पक्षी का जन्म होता है । अथवा लग्न में चर राशि का नवांश हो और शनि अथवा चन्द्रमा से युत अथवा दृष्ट हो तो पक्षी का जन्म समझना चाहिए । यहां यदि शनि का योग अथवा दृष्टि हो तो स्थलचर पक्षी का जन्म और यदि चन्द्रमा का योग अथवा दृष्टि हो तो जलचर पक्षी का जन्म समझना चाहिए ।कल्याण वर्मा ने भी इसी मत को स्वीकार किया है ।[१] आचार्य वैद्यनाथ ने भी थोड़े बहुत अन्तर के साथ यही स्वीकार किया है । वृक्ष के जन्म के ज्ञान के संबंध में आचार्य का मत है कि प्रश्नकाल में लग्न, चन्द्रमा, बृहस्पति और सूर्य निर्बल हों तो वृक्ष का जन्म होता है । जलज और स्थलज वृक्ष का विभेद करते हुए वे कहते हैं कि लग्न में जलचर राशि का नवांश हो तो जल में वृक्ष का जन्म अथवा स्थलराशि का नवांश हो तो स्थलवृक्ष का जन्म कहना चाहिए । पुन: वृक्ष विशेष के भेद को बतलाते हुए कहते हैं कि पूर्व कथित नवांश का स्वामी यदि सूर्य है तो अन्तसार (सिंसपा, साखु आदि)वृक्षों का जन्म यदि नवांश का स्वामी शनि हो तो दुर्भग (कुश, काश, सरपत

१- सारावली ५३ । १७, १८

आदि) वृक्षों का जन्म यदि नवांश का स्वामी चन्द्रमा हो तो क्षीर युक्त वृक्ष का जन्म यदि मंगल नवांश का स्वामी हो तो कांटों से युक्त वृक्ष का जन्म, यदि बृहस्पति नवांश का स्वामी हो तो फलयुक्त वृक्षों का जन्म नवांश का स्वामी बुध हो तो फलरहित वृक्षों का जन्म तथा शुक्र हो तो पुष्पयुक्त वृक्ष का जन्म समझना चाहिए।[1] वृक्षों की संख्या का ज्ञान कराते हुए आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त नवांश का स्वामी अपने नवांश को छोड़कर उससे जितनी संख्या वाले दूसरे नवांश पर जाकर बैठा हो उसी के समान उतने वृक्षों को कहना चाहिए। कल्याणवर्मा भी इसी मत को स्वीकार करते हैं।[2] आचार्य वैद्यनाथ भी आचार्य वराहमिहिर के मत के पूर्ण समर्थक हैं। यहां तक कि उन्होंने अपने ग्रन्थ जातकपारिजात में बृहज्जातक के अधिकांश श्लोकों को तद्वत् उद्धृत किया है।

निषेक का वर्णन करते हुए आचार्य वराहमिहिर सर्वप्रथम गर्भ-धारण करने के योग्य ऋतु समय का वर्णन करते हुए कहते हैं कि चन्द्रमा और मंगल ये दोनों स्त्रियों के प्रत्येक महीने में रजोदर्शन के कारण होते हैं। क्योंकि चन्द्रमा जलमय (रक्तस्वरूप) और मंगल अग्निमय (पित्तस्वरूप) है। पित्त

१- बृहज्जातक ३।७

२- सारावली ५३।२४

से रक्त जब क्षुभित होता है तो स्त्री को रजोदर्शन होता है । जब स्त्री की जन्म राशि से चन्द्रमा तृतीय, षष्ठ, दशम एवं एकादश स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में होता है तथा उस समय यदि उस पर मंगल की दृष्टि हो तो उस समय का रजोदर्शन गर्भधारण के योग्य होता है।[१] गर्भ संभव योग को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि गर्भाधान काल में सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र और मंगल अपने-अपने नवांश में हो तो गर्भसंभव कहना चाहिए अथवा बृहस्पति लग्न पंचम और नवम में स्थित हो तो भी गर्भ संभव जानना चाहिए ।

आचार्य का कथन है कि इन योगों के विद्यमान रहते हुए भी नपुंसक का गर्भ उसी प्रकार निष्फल हो जाता है जैसे -- चन्द्रमा की सुन्दर अमृतमयी किरणें अन्धों को विफल होती हैं । आचार्य कल्याणवर्मा कहते हैं कि यदि गर्भाधान के समय पुरुष की राशि से उपचय राशि में अपने-अपने नवांश में स्थित बलवान सूर्य और शुक्र हों अथवा स्त्री की राशि से उपचय राशि में मंगल और चन्द्रमा अपने-अपने नवांश में हों तो गर्भस्थिर की संभावना होती है । वे प्रकारान्तर से इसी प्रकार अन्य योगों के स्वरूपों को बताते हैं।[२]

१- कुजेन्दुहेतु प्रतिमासमार्तवं गते तु पीडर्क्षमनुष्णदीधितौ ।
अतोन्यथास्थे शुभपुंग्रहेक्षिते नरेण संयोगमुपैति कामिनी ।।
- बृहज्जातक ४।१

२- सारावली, अध्याय ८।११,१२

आचार्य वराहमिहिर ने गर्भाधान काल से प्रसूतिकाल तक के शुभाशुभ ज्ञान को पुरुष एवं स्त्री के रोग को स्त्री की मृत्यु को तथा पिता-माता, चाचा, मौसी आदि के शुभाशुभ ज्ञान का विधिवत विवेचन किया है। वे गर्भिणी स्त्री के मरण के योगों को बताते हुए कहते हैं कि गर्भाधान कालिक लग्नराशि में पाप ग्रह आने वाला हो अर्थात् लग्न से पीछे द्वादश स्थान में स्थित हो कोई शुभग्रह लग्न को नहीं देखता है तो गर्भिणी स्त्री की मृत्यु होती है अथवा गर्भाधान कालिक लग्न में शनि स्थित हो तथा उसको क्षीण चन्द्रमा और मंगल देखता हो तो गर्भिणी की मृत्यु होती है। इसी प्रकार आचार्य ने गर्भिणी के मरण के तथा शस्त्रादि से एवं गर्भस्राव इत्यादि योगों का विधिवत विवेचन किया है। पुन: गर्भाधान काल से अथवा प्रश्नकाल से गर्भ में स्थित पुत्र और कन्या के विभाग का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि गर्भाधान कालिक प्रश्नकालिक लग्न से सूर्य, बृहस्पति और चन्द्रमा विषम-राशि अथवा विषम राशि के नवांश में स्थित हो तो गर्भिणी के गर्भ में पुत्र की स्थिति तथा पूर्वोक्त सभी ग्रह समराशि अथवा समराशि के नवांश में हों तो गर्भ में कन्या की स्थिति जानना चाहिए। इसी तरह पुत्र एवं कन्या के एक दूसरे सरल तरीके को बताते हुए कहते हैं कि गर्भाधानकाल में अथवा प्रश्नकाल

१- बृहज्जातक ४। ८, ६

में लग्न को छोड़कर लग्न से विषम-स्थान (तृतीय, पंचम, सप्तम, नवम, एकादश) में शनैश्चर हो तो पुत्रजन्म अन्यथा कन्या का जन्म होता है।[1] वराहमिहिर से परवर्ती प्राय: सभी आचार्य इसी मत को स्वीकार करते हैं। पुत्र एवं कन्या के अतिरिक्त नपुंसक जन्म के छ: प्रकार के योगों का आचार्य ने निरूपण किया है।[2] पुन: एक साथ दो तीन और उससे भी अधिक संतति के योगों को बताया है। गर्भ के मासों के स्वामी और उनके फलों को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि गर्भाधान से प्रथम महीने में कलल (रज-वीर्य का मिश्रण) तथा दूसरे महीने में घनपिण्डरूप, तीसरे महीने में उस पिंड का हाथपैर आदि अवयव का अंकुर, चौथे महीने में अस्थि का निर्माण, पांचवें में चर्म, छठें महीने में रोम, सातवें महीने में चेतना, आठवें महीने में माता के खाए हुए रस का आस्वादन और नवें महीने में गर्भ से निकलने का उद्वेग तथा दसवें माह के आरम्भ में प्रसव होता है। इन महीनों के अधिपतियों को बताते हुए कहते हैं कि गर्भ के प्रथम महीने का स्वामी शुक्र, दूसरे का मंगल, तीसरे का गुरु, चौथे का सूर्य, पांचवें का चन्द्रमा, छठें का शनि, सातवें का बुध, आठवें का लग्न का स्वामी, नवें का चन्द्रमा और

१- बृहज्जातक, अध्याय ४। १२

२- वही , अध्याय ४। १२

सूर्य है।[१] कल्याणवर्मा ने भी गर्भ के दस मासों के स्वामियों को वराह-मिहिर की ही भांति माना है।[२] किन्तु यवनाचार्य ने प्रथम मास का अधिपति मंगल को एवं द्वितीय मास का स्वामी शुक्र को बताया है।[३] पुन: आचार्य वराहमिहिर अधिक अङ्ग, मूक एवं बहुत दिनों के बाद बोलने के योग को बताते हुए कहते हैं कि यदि वृष राशि में चन्द्रमा बैठा हो तथा सभी पाप ग्रह कर्क, वृश्चिक, मीन राशियों के अंतिम नवांश में स्थित हों तो गर्भ में मूक संतान होती है किन्तु यदि उपर्युक्त लक्षण हों परन्तु चन्द्रमा को शुभ ग्रह देख रहें तो वह सन्तान बहुत दिन बाद मुखरित होगी।[४] इसी प्रकार सदन्तादियोग, कुब्जयोग, पङ्गुयोग, जड़योग, वामनयोग एवं अंगहीन योग, अंध एवं काण योगों का विधिवत् विवेचन किया है।[५] आधान लग्न से प्रसव काल का समय बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि गर्भाधानकालिक अथवा प्रश्नकालिक चन्द्रमा जितनी संख्या वाले

१- बृहज्जातक, अध्याय ४ । १६

२- सारावली - ८ । ३१

३- कुजास्फुजीज्जीवरविन्दु सौर्यशशाङ्क लग्नेन्दु दिवाकराणाम् ।
- यवनजातक

४- बृहज्जातक ४।१७

५- वही ४ । २०

द्वादशांश में स्थित हो उतनी संख्या मेषादि से गणना करने पर जो राशि मिले दसवें महीने में उस राशि में जब चन्द्रमा आये तब जन्म कहना चाहिए । सारावलीकार भी इसी मत की पुष्टि करते हैं ।[1]

सूतिका सम्बन्धी विषयों का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम आचार्य वराहमिहिर जातक का जन्म पिता के परोक्ष में अथवा उपस्थिति में होने का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जन्म समय में चन्द्रमा लग्न को न देखता हो तो पिता के परोक्ष में जन्म कहना चाहिए । यदि शनैश्चर लग्न मे स्थित हो और चन्द्रमा लग्न को न देखता हो तो पिता को विदेश में ~~स्थित है~~ ऐसा कहना चाहिए । इसी प्रकार सर्प स्वरूप और सर्प-वेष्टित जातक का ज्ञानकोश से वेष्टित, यमलयोग, नाल से वेष्टित संतान का जन्म बताया है । जारजसंतान के ज्ञान को बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि लग्न और चन्द्रमा को बृहस्पति न देखता हो तो जार (परपुरुष) से उत्पन्न संतान कहना चाहिए । इसी तरह सूर्य सहित चन्द्रमा को बृहस्पति न देखता हो अथवा पापग्रह से युक्त चन्द्रमा किसी राशि में हो तो जार से उत्पन्न सन्तान कहना चाहिए ।[2] वृद्ध यवन ने भी इसी प्रकार

१- सारावली ८। ५८

२- बृहज्जातक ५ । ६

जारज संतान के लिए अनेक योगों को बताया है ।[१] आचार्य ने जातक के पितृबंधन योग को नौकास्थ जन्म योग तथा जल में जन्म के ज्ञान को बताया है । जलचर राशि (कर्क, मकर का परार्ध, मीन) में से कोई राशि लग्न में हो और चन्द्रमा भी जलचर राशि का हो तो जल के समीप में जन्म होता है[२]। आचार्य कल्याण वर्मा ने भी इसी बात को स्वीकार किया है ।[३] पुन: आचार्य ने बंधनाकार एवं गर्त में जन्म का योग क्रीडा-भवनादि में जन्म का योग, श्मशानादि में जन्म का योग, प्रसवदेश का ज्ञान, माता से त्यक्त संतान का ज्ञान, माता से त्यक्त संतान का मृत्युयोग,प्रसव के घर का ज्ञान, दीप संभवासंभव और भू प्रदेश का ज्ञान, दीप और गृह द्वार का ज्ञान, सूतिका गृह का स्वरूप समस्त वास्तु भूमि में किस तरफ सूतिका का घर है इसका ज्ञान । सूतिका शयनज्ञान उपसूतिका की संख्या का ज्ञान, बालक के स्वरूप आदि का ज्ञान द्रेष्काण के वश, अंग विभाग का ज्ञान, जातक के अंग में चिहन का ज्ञान तथा व्रण का ज्ञान आदि विषयों का विधिवत् विवेचन किया है । व्रण का ज्ञान बताते हुए वे लिखते हैं कि बुध से युक्त तीन शुभ ग्रह अथवा पापग्रह जिस राशि में स्थित हों उस राशि के

१- वृद्धयवन जातकम्

२- बृहज्जातक ५।१

३- सारावली १।६

अंग में निश्चय करके घाव इत्यादि का चिह्न कहना चाहिए । तथा इन चार ग्रहों में जो सबसे बलवान हो उसी की दशा में व्रण कहना चाहिए । अगर पापग्रह लग्न से षष्ठ स्थान में स्थित हों तो वह षष्ठस्थ राशि अंग विभाग में जिस अंग में हों उसी अंग में घाव करता है । इसी प्रकार पापग्रह लग्न से षष्ठ स्थान में स्थित हो और उस पर शुभ ग्रह की दृष्टि हो तो तिलमसा आदि करता है[१]।

-

१- बृहज्जातक ५। २६

जातक के अरिष्ट की चर्चा करते हुए आचार्य कल्याण वर्मा कहते हैं कि जब तक आयु का सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता तब तक जातक के समस्त फल निष्फल होते हैं । इसलिए सर्वप्रथम जातक के अन्य जीवन सम्बन्धी घटनाओं को जानने के पूर्व बालारिष्ट का चिन्तन करना चाहिए।[१] महर्षि पाराशर का कथन है कि जन्म से २४ वर्ष अवस्था तक बालारिष्ट होता है । अत: उक्त अवस्था तक बालकों के आयु की गणना नहीं करनी चाहिए ।[२] आचार्य वैद्यनाथ का कथन है कि जातक के १२ वर्ष पर्यन्त आयु का निश्चय नहीं हो सकता । क्योंकि माता-पिता के किए हुए पाप कर्म से और बालग्रहों से बालक का नाश होता है । जन्म से चार वर्ष तक बालक माता के पाप से मरता है, उसके बाद ८ वर्ष तक पिता के पाप से तथा अन्त के चार वर्षों तक अपने पापों से मृत्यु को प्राप्त करता है ।[३]

आचार्य वराहमिहिर का मत है कि जिस जातक का जन्म संध्याकाल में लग्न में चन्द्रमा की होरा से हो और पापग्रह अन्तिम नवांश में हो अथवा चन्द्रमा के सहित तीन पापग्रह प्रत्येक केन्द्र में स्थित हों तो

१- सारावली १० । १

२- बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् ५।१

३- जातक पारिजातकम्, अध्याय ४ । १-२

उस जातक का निश्चित मरण होता है, अन्य अरिष्ट योगों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि जन्म लग्न से द्वादश में क्षीण चन्द्रमा हो, पापग्रह लग्न और अष्टम इन दोनों स्थानों में हों और केन्द्र में कोई शुभग्रह न हो तो जातक का शीघ्र मरण हो जाता है।[1] भगवान् गर्ग ने भी वराहमिहिर के इसी मत से पर्याप्त मिलता-जुलता अपना मत प्रकट किया है।[2] पुन: अन्य अरिष्ट योगों की चर्चा करते हुए आचार्य कहते हैं कि पापग्रह से युक्त चन्द्रमा सप्तम, द्वादश, अष्टम और लग्न इन स्थानों में से किसी स्थान में हो और उस पर किसी शुभग्रह की दृष्टि न हो तथा केन्द्र में कोई शुभग्रह न हो तो जातक का मरण होता है।[3] आचार्य कल्याण वर्मा ने भी वराहमिहिर के इसी मत की पुष्टि की है।[4] आचार्य वराहमिहिर का कथन है कि चन्द्रमा लग्न से छठें अथवा अष्टम में स्थित हो और उस पर पाप ग्रह की दृष्टि हो तथा शुभग्रह की दृष्टि न हो तो जातक का शीघ्र मरण होता है। अथवा लग्न से छठे अथवा आठवें स्थान स्थित चन्द्रमा पर केवल शुभग्रह की दृष्टि हो

१- बृहज्जातक, अध्याय ६।४

२- श्लोक - क्षीणे चन्द्रे व्यय गते पापैरष्टम् लग्नगैः।
केन्द्र बाह्यगतैः सौम्यै जातस्य निधनं भवेत् ।।
- गर्ग संहिता

३- बृहज्जातक ६। ५

४- सारावली १०। ३०

तो जातक आठ वर्ष जीता है । वराहमिहिर के इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि लग्न से षष्ठ और अष्टम स्थान में स्थित चन्द्रमा पर किसी भी ग्रह की दृष्टि न हो तो जातक का मरण नहीं होता । वराहमिहिर से पूर्व यवनाचार्य[1] ने भी इसी मत को प्रकट किया था । यवनाचार्य ही नहीं वरन् आचार्य माण्डव्य[2] इत्यादि भी यही स्वीकार करते हैं । अन्य अरिष्ट योगों की चर्चा करते हुए आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि लग्न में क्षीण चन्द्रमा अष्टम और केन्द्र में पापग्रह स्थित हो तो जातक का मरण होता है अथवा चन्द्रमा पापग्रहों के मध्य में स्थित होकर अष्टम चतुर्थ सप्तम इन स्थानों में से किसी एक स्थान में बैठा हो तो जातक का मरण होता है । अथवा चन्द्रमा पापग्रहों के मध्य में स्थित होकर लग्न में बैठा हो और पापग्रह सप्तम और अष्टम स्थान में स्थित हो तो ऐसे योग में उत्पन्न जातक माता के साथ मर जाता है । सारावलीकार आचार्य कल्याणवर्मा ने भी माता के सहित अरिष्ट सम्बन्धी कई सिद्धान्तों को बताया है । एक स्थल

१- यवनसंहिता ~~श्लोक - लग्न सती~~

२- पक्षे सिते भवति जन्म यदि दापायां कृष्णेऽथवाऽहनिशुभाशुभ दृश्यमान:
तं चन्द्रमा रिपुविनाशगतोऽपि यत्नादापत्सु रक्षति पितेवशिशुं न हन्ति।।
(माण्डव्य संहिता)

पर वे कहते हैं कि यदि सूर्यग्रहण काल में जन्म हो और पापग्रह से युत सूर्य लग्न में हो तथा अष्टम भाव में मंगल हो तो माता के सहित जातक का निधन आपरेशन से होता है।[१]

आचार्य वैद्यनाथ ने भी पितृमरणयोग, मातृमरणयोग, जातकमरणयोग तथा प्रत्येक वर्षों में भिन्न-भिन्न अरिष्ट योगों को बताया है। आचार्य वराहमिहिर जातक की माता के साथ मृत्यु की चर्चा अन्य योगों के माध्यम से की है। इनका कथन है कि शनैश्चर आदि पापग्रह से युत होकर चन्द्रमा लग्न में बैठा हो और लग्न से अष्टम में मंगल हो अथवा शनि, बुध और कोई एक पापग्रह से युक्त सूर्य लग्न में बैठा हो तथा मंगल अष्टम स्थान में बैठा हो तो माता सहित जातक की मृत्यु हो जाती है।[२] इस प्रकार आचार्य वराहमिहिर पूर्वोक्त अरिष्ट योगों में मरण समय का निश्चय करते हुए कहते हैं कि योग कर्ता ग्रहों में जो सबसे बली हो वह जन्म-समय में जिस राशि में स्थित हो उस राशि में गमनक्रम से जब चन्द्रमा आता है तब जातक का मरण होता है। अथवा जन्म समय में जिस राशि में चन्द्रमा हो पुन: गति क्रम से उसी राशि में जब आता है तब जातक का मरण होता है। अथवा जन्म लग्न राशि में गतिक्रम से जब

१- सारावली, अध्याय १०।३७

२- बृहज्जातक, अध्याय ६।६

चन्द्रमा आता है तब जातक का मरण होता है अथवा पूर्वोक्त योग स्थानों में गतिक्रम से आया हुआ चन्द्रमा जब बलवान् होता है और पापग्रहों से देखा जाता है तब जातक का मरण होता है।[१] आचार्य ढुण्ढिराज ने लिखा है कि कोई भी पापग्रह षष्ठ या अष्टम स्थान में स्थित होकर किसी अन्य पापग्रह से देखा जा रहा हो तो ऐसे योग में उत्पन्न जातक यदि अमृत भी पी लिया होतो मृत्यु को प्राप्त होता है। जिसने अमृत का पान नहीं किया है उसकी मृत्यु में आश्चर्य ही क्या है।[२]

अरिष्ट विचार करने के पश्चात् आचार्य वराहमिहिर आयु सम्बन्धी विषयों का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम मयासुर, यवनाचार्य, मणित्थ, पाराशर आदि आचार्यों के मतों को स्वीकार करते हुए उनके द्वारा कथित ग्रहों के परमायु का उल्लेख करते हैं। परमोच्च का सूर्य १६ वर्ष की आयु चन्द्रमा २५ वर्ष मंगल १५ वर्ष, बुध १२ वर्ष, बृहस्पति १५ वर्ष, शुक्र २१ वर्ष और शनैश्चर २० वर्ष प्रदान करता है। आयु का वर्णन करते हुए वराहमिहिर कहते हैं कि मयासुर, जीवशर्मा, सत्याचार्य में से सत्याचार्य का मत सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु बहुत लोग सत्याचार्य के मत से लायी हुई आयु में

१- बृहज्जातक - अध्याय ६। १२

२- एकोऽपि पापोऽष्टमगोऽरिगेहे पापेक्षितोऽब्देन शिशुंनिहन्यात्।
सुधारसो यद्यपि येन पीत: किमत्र चित्रं न हि येन पीत: ।।
(जातकाभरणम्, पृ० २६२)

भी अनुचित कर डालते हैं। आचार्य का कथन है कि आचार्यत्व या पाण्डित्य यही है कि बहुत गुणनता प्राप्त होने पर जो ज्यादा हो उसी को ग्रहण करे। महर्षि जैमिनि ने भी जातक की आयु के तीन भाग किए हैं। वे २० वर्ष तक योगारिष्ट, २० से ३२ वर्ष तक अल्पायु योग, ३२ से ७० तक मध्यम आयु योग, ७० से १०० वर्ष तक पूर्णायु योग और १०० से १२० वर्ष तक परमायु योग माना है। वे आयु के तीन भाग करते हैं अल्पायु, मध्यमायु और दीर्घायु। वे जन्मलग्नेश, अष्टमेश, लग्नचन्द्र,लग्न-होरा आदि से तीन प्रकार आयु का निर्णय करते हैं। ऐसे स्थलों पर विसम्वाद होने पर शनि को भी ग्रहण करते हैं।[१] आचार्य वराहमिहिर ग्रहों के स्पष्ट अंशादि को से स्फुट ग्रहों के आयु का आनयन करते हैं। चूंकि वराहमिहिर राहु एवं केतु को मुख्य ग्रह नहीं मानते इन्हें छायाग्रह मानते हैं अत: यहां सूर्यादि ग्रहों के साथ लग्न को सम्मिलित करते हैं। स्फुट ग्रहों से निकली हुई आयु का योग करके पुन: उसमें चक्रार्ध हानि के द्वारा जातक के आयु का आनयन करते हैं। चक्रार्ध हानि में सर्वप्रथम जो पाप-ग्रह द्वादश स्थान में स्थित होता है वह अपनी प्रदत्त आयु का सम्पूर्ण भाग

१- जैमिनिसूत्रम् आयुर्दायाध्याय, पृ० ६६

हर लेता है । इसी प्रकार जो पापग्रह एकादश स्थान में स्थित होता है वह अपनी पूर्वानीत आयु का अर्धांश हर लेता है । जो पापग्रह दशम भाव में स्थित होता है वह अपनी प्रदत्त आयु का तृतीयांश हर लेता है । नवम में स्थित पापग्रह अपनी आयु का चतुर्थांश भाग हर लेता है । अष्टम में पञ्चमांश, सप्तम में स्थित पापग्रह षष्ठांश नष्टकर देता है । यदि इसी प्रकार शुभग्रह बैठा हो तो इसका अर्धभाग नष्ट कर देता है । जैसे शुभग्रह द्वादश में बैठा हो तो अर्धभाग, एकादश में बैठा हो तो चतुर्थांश, दशम में स्थित हो तो षष्ठांश, नवम में हो तो अष्टमांश, अष्टम में हो तो दशमांश, सप्तम में हो तो द्वादशांश आयुष् का भाग नाश कर देता है । अगर उक्त स्थानों में एक ग्रह से अधिक ग्रह हो तो उनमें जो बलवान् ग्रह होता है वही अपनी आयु को नष्ट करता है अन्य सभी नहीं ।[1] भाव कुतूहलकार ने आयु जानने का एक सरल तरीका बताया है उनके अनुसार लग्नेश यदि सूर्य का मित्र है तो जातक दीर्घायु होता है । यदि लग्नेश सूर्य का सम हो तो जातक मध्यमायु तथा यदि लग्नेश सूर्य का शत्रु है तो जातक अल्पायु होता है ।[2] आचार्य कल्याण वर्मा ने तीन प्रकार अंशायु,

---

१- बृहज्जातक - अध्याय ७, श्लोक ३

२- भावकुतूहलजातकम् - आयुर्ज्ञानम्, पृ० १६१

पिण्डायु, निसायु इत्यादि तीन प्रकार की आयु का विवेचन किया है[१]।
बृहत्पाराशर होराशास्त्र में भी आयु साधन के विविध प्रकार बताए गए
हैं[२]। आचार्य मन्त्रेश्वर ने फलदीपिका नामक ग्रन्थ में आयुसाधन के प्रकार
को बतलाते हुए लिखते हैं कि लग्न, द्रेष्काणराशि और चन्द्रद्रेष्काणराशि
यदि दोनों चर में स्थित हों अथवा एक स्थिर में हो और दूसरा द्विस्वभाव
में हो तो दीर्घायु यदि दोनों स्थिर या एक चर एक द्विस्वभाव में हो तो
अल्पायु यदि दोनों द्विस्वभाव या एक चर एक स्थिर राशि में हो तो
मध्यमायु योग होता है। इसी प्रकार आचार्य ने लग्नेश नवांशराशि और
चन्द्रेश नवांश राशि तथा लग्नेश द्वादशांशराशि और रंध्रेशद्वादशांश राशि के
माध्यम से जातक के अल्पायु, मध्यमायु एवं दीर्घायु का निर्णय किया है[३]।
आचार्य वैद्यनाथ ने भी आयु के वर्णन प्रसंग में आयु के साथ निर्याण के हेतु
को हस्तादिविच्छेद योग, दुर्मरणयोग काष्ठाघातान्नमृत्युयोग, मातृकोपान्न-
मृत्युयोगों को, निर्याण आदि योगों का विधिवत् विवेचन किया है[४]।
जातकाभरणम् ग्रन्थ में आचार्य ढुंढिराज ने निर्याण के हेतुओं का तथा निर्याण

१- सारावली - अध्याय ३६, श्लोक २-३

२- बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् - आयुर्दायाध्याय:

३- फलदीपिका - अध्याय १३, श्लोक - १४

४- जातक पारिजात - अध्याय ५

का समय का विवेचन सूक्ष्म रीति से किया है ।[१]

आचार्य वराहमिहिर ने मनुष्यादि की परमायु का विवेचन करते हुए लिखते हैं कि मनुष्य और हाथी की १२० वर्ष ५ दिन परमायु होती है । घोड़े की ३२ वर्ष, गधा और ऊंट की २५ वर्ष, बैल और भैंस की २४ वर्ष, कुकुर आदि नख वाले जीवों की १२ वर्ष, बकरी, मेढ़, हिरन आदि की १६ वर्ष परमायु होती है ।[२] इन जीवों की आयु का आनयन करने की विधि को बताते हुए लिखते हैं कि घोड़े आदि जिस किसी जीवों के आयु का आनयन करना हो तो मनुष्य की ही भांति गणित से आयी हुई स्फुट आयु का त्रयराशिक से स्पष्ट आयु कर लेनी चाहिए ।इसी प्रकार अमितायुर्योग का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि बृहस्पति,चन्द्रमा इन दोनों से युत कर्क लग्न हो, बुध और शुक्र केन्द्र में हो शेष ग्रह लग्न से एकादश, षष्ठ, तृतीय इन स्थानों में स्थित हों तो गणित के प्रकार से आई हुई आयु को छोड़कर उस जातक की अमित (प्रमाण वर्जित) आयु होती है ।[३]

१- जातकामरणम् - निर्याणाध्याय

२- बृहज्जातक ७, श्लोक ५

३- बृहज्जातक अध्याय ७, श्लोक - १४

ग्रहों की दशा, अन्तर्दशा, प्रत्यन्तरदशा, सूक्ष्मदशा तथा प्राणदशा इत्यादि का जो क्रम पूर्व आचार्य पाराशर आदि ने बताया है आचार्य वराहमिहिर उस दशा क्रम में भेद करते हैं । विंशोत्तरी महादशा में २७ नक्षत्रों को तीन भागों में बांटकर राहु केतु के सहित ९ ग्रहों में ~~समान रूप से~~ विभाजित किया जाता है । चूंकि आचार्य वराहमिहिर राहु केतु को भारतीय ग्रह के रूप में नहीं स्वीकार करते जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है अत: वराहमिहिर के अनुसार पूर्वनीत आयुक्रम के अनुसार ग्रहों की दशा जातक को प्राप्त होती है । आचार्य वराहमिहिर का कथन है कि लग्न सूर्य और चन्द्रमा इन तीनों में जो सर्वाधिक बलवान हो पहले उसकी दशा होती है । फिर उसके बाद जो चार केन्द्र स्थान हैं उनमें स्थित ग्रहों की तदुपरान्त पणफर में स्थित ग्रहों की पुन: उसके बाद आपोक्लिम में स्थित ग्रहों की दशा जातक को प्राप्त होती है ।[१] महर्षि पाराशर ने विंशोत्तरीदशा, षोडशोत्तरीदशा, द्वादशोत्तरीदशा, अष्टोत्तरीदशा, पञ्चोत्तरीदशा, शतसमादशा, चतुर्शीति समादशा, द्विसप्ततिसमादशा, षष्ठिसमा दशा, षड्विंशतिसमादशा, नवमांश नव दशा, राश्यंशकदशा, कालदशा, कालचक्रदशा, चक्रदशा, चरपर्यायदशा, स्थिरदशा, उत्तरदशा, केन्द्रादिदशा, कारकादिदशा, माण्डूकीदशा, शूलदशा, योगार्धदशा, दृग् दशा,

---

१- बृहज्जातक - अध्याय ८, श्लोक १

त्रिकोणदशा, राशिदशा, तारादशा वर्षदशा, पञ्चस्वरदशा, योगिनी-दशा, पिण्डदशा, अंशदशा, नैसर्गिकदशा, अष्टक वर्ग दशा, संध्यादशा, पाचक-दशा, इत्यादि ४२ प्रकार के दशा भेदों का वर्णन किया है ।[१]

आचार्य वराहमिहिर दशा वर्ष के प्रमाणों को बताते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम ग्रहों की स्फुट आयु के द्वारा जिस ग्रह की जितनी आयु हो उस संख्यापर्यन्त उस ग्रह की दशा होती है । आचार्य का कथन है कि सबसे बली ग्रह की दशा प्रथम ही होती है ।[२] ग्रहों की दशाओं का सूक्ष्म विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य वराहमिहिर का यह मत तर्क-संगत नहीं लगता, क्योंकि प्राय: देखा जाता है कि कुछ जातक बचपन में ही अधिक अस्वस्थ एवं दु:ख को भोगते हैं । तथा कुछ जातक आयु के मध्य भाग में तथा कुछ अन्त में कष्ट पाते हैं । अत: यदि बली ग्रहों की दशा पूर्व में ही प्राप्त हो जाय तो जातक को जीवन के आरम्भ में नितान्त स्वस्थ एवं सुखी होना चाहिए जबकि ऐसा नहीं होता । आचार्य कल्याणवर्मा वराहमिहिर तथा सत्याचार्य के मतों को ही अपना मत स्वीकार करते हैं । शुभफल प्रदान करने वाली तथा अशुभ फल प्रदान करने वाली दशा के सम्बन्ध में कल्याणवर्मा

१- बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् - दशाध्याय, श्लोक २-११

२- बृहज्जातक - अध्याय ८, श्लोक -२

का मत है कि जो ग्रह जन्म के समय अपने उच्चराशि में अथवा स्वराशि में अपने नवांश में या मित्र की राशि में परिपूर्ण किरणवाला पूर्ण बली-दशारम्भ में बलवान मित्र के नवांश में व उच्चनवांश में शुभ ग्रह से दृष्ट होता है वह ग्रह अपनी दशा में शुभ फल देता है। इसके विपरीत स्थितियों में स्थित ग्रह नीच या शत्रुराशि में अस्त हो तथा पापग्रहों से दृष्ट होने पर उस ग्रह की दशा अशुभ फल देने वाली होती है।[१] फलदीपिकाकार मंत्रेश्वर ने ग्रहों की शुभ कारक एवं अशुभकारक दशाओं का निरूपण सरलतम ढंग से करते हुए लिखा है कि यदि शनि की दशा चौथी हो, बृहस्पति की दशा छठीं हो, मंगल और राहु की दशा पांचवी हो कोई भी ग्रह किसी राशि के अंतिम अंश पर हो दुःस्थान स्थित ग्रहों की दशा जातक के लिए सदा कष्ट कर होती है। इसी प्रकार यदि मंगल ऊर्ध्व मुख राशि में स्थित होकर मकर में हो और लग्न से दशम या एकादश स्थान में स्थित हो तथा शुक्र मीन तुला या वृषभ-राशि में स्थित होकर दशम, एकादश या द्वादश में हो तथा किसी पापग्रह के साथ में न हो तथा अस्त न हो तो इन दशाओं में जातक बहुत वैभवयुक्त होकर लोक में प्रशंसित होता है।[२] आचार्य वैद्यनाथ ने लिखा है कि जो ग्रह शीर्षोदय

१- सारावली ४०, श्लोक ६-७

२- फलदीपिका - अध्याय २०, श्लोक २४-२६

राशि में होता है वह दशा के आदि में तथा पृष्टोदय गृह दशा के अन्त में एवं उभयोदय राशि का गृह सदा फल देता है।[१]

आचार्य वराहमिहिर दो प्रकार की आरोहिणी एवं अवरोहिणी दशाओं का वर्णन करते हैं। इसमें आरोहिणी दशा शुभ फल तथा अवरोहिणी दशा अशुभ फल देती है। स्वाभाविक गृहदशा का समय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जन्म समय से आरम्भ कर एक वर्ष तक चन्द्रमा का उसके बाद दो वर्ष तक मंगल का उसके बाद नव वर्ष तक बुध का उसके बाद २० वर्ष तक शुक्र का तत्पश्चात् १८ वर्ष तक गुरु का तत्पश्चात् २० वर्ष तक सूर्य का और उसके बाद ५० वर्ष तक शनि का नैसर्गिक दशा काल होता है।[२]

उपर्युक्त दशा का शुभाशुभ विवेचन करने के पश्चात् आचार्य सूर्यादि गृहों के शुभाशुभ स्थान में स्थित होने के फलों का विधिवत् निरूपण किया है। आचार्य ~~लिखते हैं कि~~ जिस मनुष्य की जन्म दशा ज्ञात नहीं है उसकी कान्ति देखकर दशा जानने के प्रकार को बतलाया है। आचार्य कहते

१- जातकपारिजात - अध्याय १८, श्लोक २४

२- बृहज्जातक, अध्याय ८, श्लोक -९

हैं कि सभी ग्रह अपनी-अपनी दशा में अपने-अपने महाभूत (तत्व) सम्बन्धी छाया को प्राणियों के शरीर को प्रकट करता है।[१]

-

१- बृहज्जातक - अध्याय ६, श्लोक १

जातक के जीवन पर होने वाले गोचरीय ग्रह का प्रभाव पूर्ण-रूपेण तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक कि अष्टक वर्ग का विधिवत ज्ञान न हो । ग्रहों के गोचरवश शुभाशुभ फल जानने के लिए अष्टक वर्ग की प्रशंसा की गई है । आचार्य वराहमिहिर ने सूर्यादि सात ग्रह लग्न के सहित मिलाकर आठ को अष्टक वर्ग में सम्मिलित किया है । अष्टक वर्ग की परंपरा भारतीय ज्योतिषशास्त्र में महर्षि पाराशर एवं यवन इत्यादि के समय से ही परम्परा प्राप्त होती है क्योंकि महर्षि पराशर ने भी बृहत्पाराशर होराशास्त्र में ग्रहों के अष्टकवर्ग की चर्चा की है । पाराशर ने तो त्रिकोण शोधन, एकाधिपति शोधन तथा सर्वाष्टकवर्ग की भी चर्चा की है ।[१] आचार्य मंत्रेश्वर का कथन है कि प्राचीन काल में भूमि पर राशिचक्र आदि बनाने की प्रथा थी । और जहां पर बिन्दी लगानी होती वहां रुद्राक्ष का दाना या अन्य कोई गोली के आकार का फल रख कर गणना की जाती थी । किन्तु अब आधुनिक आचार्य सभी कार्य कागज पर करते हैं । और जहां पर गोली का स्थान बनाना होता है वहां शून्य का चिह्न लगा देते हैं । इसलिए श्लोकों में अक्ष शब्द से शून्य का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।[२]

१- बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - अष्टक वर्ग अध्याय

२- फलदीपिका - अध्याय २३ श्लोक २

आचार्य वराहमिहिर सूर्यादि ग्रहों की अष्टक वर्ग की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि सूर्य का अपने स्थान, मंगलयुत स्थान और शनैश्चर स्थान से १, ११, ४, ८, २, १०, ६, ७ इन स्थानों में गोचर का फल शुभ होता है। शुक्र से ७, १२, ६ बृहस्पति से ६, ५, ११, ६ चन्द्रमा से १०, ३, ११, ६ बुध से १०, ३, ११, ६, १२, ६, ५ तथा लग्न से १०, ३, ११, ६, ६४, १२ इन स्थानों में गोचर का फल शुभ देते हैं। तथा अनुक्त स्थानों में गोचर का फल अशुभ देते हैं।[1] आचार्य वराहमिहिर की ही भांति परवर्ती सभी आचार्यों ने अष्टक वर्ग का विवेचन किया है। कतिपय आचार्य मानसागरीकार इत्यादि आचार्यों ने अपने अष्टक वर्ग में ५ राहु को भी सम्मिलित किया है। आचार्य वराहमिहिर से आचार्य मंत्रेश्वर का जन्म कालीन बृहस्पति से चन्द्रमा के शुभ स्थानों में मतभेद है। आचार्य वराह-मिहिर का कथन है कि चन्द्रमा के शुभ अष्टक वर्ग में बृहस्पति चन्द्रमा से १, ४, ७, ८, १०, ११, १२ स्थानों में शुभ होता है।[2] जबकि आचार्य मंत्रेश्वर का कहना है कि चन्द्रमा से बृहस्पति १, २, ४, ७, ८ १०, ११ स्थानों में शुभ

१- बृहज्जातक - अध्याय ६, श्लोक १

२- बृहज्जातक - अध्याय ६, श्लोक २

होता है ।[१] आचार्य कल्याण वर्मा का कथन है कि यदि शुभाशुभ चिह्नस्थ राशि गृह की उच्च या स्वराशि या मित्र की राशि हो तो गृह विशेष रूप से फल देता है । और अनिष्ट फल सामान्य रूप से देता है । दशाधीश के बल से यदि गृह बली हो तो अष्टक-वर्ग से उत्पन्न शुभाशुभ फल का नाशक होता है ।[२] आचार्य वैद्यनाथ गृहों का अष्टकवर्ग बताने के पश्चात् अष्टकवर्ग में एक-एक बिन्दुओं के पृथक् फल को बताया है । वे लिखते हैं कि एक बिन्दु नाना प्रकार का रोग, दु:ख भय और भ्रमण कराता है । दो बिन्दु मन में ताप, राजा और चोर से दु:ख अपवाद तथा भोजन में कष्ट देता है । तीन बिन्दु अच्छे प्रकार से चलने में रोक, कृश शरीर तथा मन को व्याकुल करता है । चार बिन्दु समता करता है । पांच बिन्दु उत्तम वस्त्र का लाभ, पुत्र का लालन, साधुसंग, विद्या तथा धन को प्रदान करता है । छ: बिन्दु सुन्दर स्वरूप, शील, युद्ध में विजय, धन, यश, बल, वाहन प्रदान करता है । तथा सात बिन्दु घोड़ा आदि की सवारी, सेना, विभव, शोभा आदि एवं आठ बिन्दु सप्तगुण में श्रेष्ठ राजप्रताप को करते हैं ।[३] आचार्य मंत्रेश्वर ने

१- फलदीपिका अध्याय २३, श्लोक ४

२- सारावली अध्याय ५२, श्लोक - ६

३- जातकपारिजात - अध्याय १०, श्लोक ५ से ८ तक

ग्रहों के भावानुसार अष्टक वर्ग के फल को बताया है । यथा लग्न से चौथे घर का स्वामी जिस नवांश में हो उस नवांश के स्वामी की दशा में पिता की मृत्यु होती है । चौथे घर के मालिक की दशा में पिता तुल्य चाचा आदि की मृत्यु होती है ।[१] इसी प्रकार मंगल के अष्टक वर्ग में मंगल जिस राशि में हो उससे तृतीय स्थान में जितने शुभ बिन्दु हों जातक उतने ही भाई होता है तथा बुध के अष्टक वर्ग में बुध से चौथी राशि में जितने शुभ गृह हों उतने मामा होते हैं । इसी प्रकार बृहस्पति के अष्टक वर्ग में बृहस्पति की राशि से पांचवे स्थान में जितने शुभ बिन्दु होंगे जातक के उतने ही पुत्र होते हैं ।[२] मानसागरी इत्यादि ग्रन्थों में सर्वाष्टक वर्ग की भी चर्चा की गई है ।

आचार्य वराहमिहिर ग्रहों के अष्टक वर्ग का विवेचन करने के पश्चात् कहते हैं कि जन्मराशि से प्रत्येक राशि में शुभ अशुभ स्थानों का अन्तर करने से शुभ शेष बचे तो शुभ फल, अशुभ शेष बचे तो अशुभ फल होता है । इस तरह आनीत शुभ स्थान, जन्मलग्न या जन्मकालिक चन्द्र-राशि से तृतीय, षष्ठ, दशम, एकादश, अपने मित्र का स्थान, अपने स्थान

१- फलदीपिका - अध्याय २४, श्लोक ४

२- वही - अध्याय २४, श्लोक ६, १०

या उच्च स्थान में पड़े तो पुर्ण शुभ फल देता है । यदि १, २, ४, ५, ७, ८, ६, १२ अपने नीच स्थान या अपने शत्रु स्थान में पड़े तो पुर्ण शुभ फल नहीं देता है ।[१]

कर्माजीव नामक अध्याय में जातक को किससे तथा किस मार्ग से धन की प्राप्ति होगी इसका विवेचन आचार्य ने बड़ी सूक्ष्म रीति से किया है । वे लिखते हैं कि लग्न और चन्द्रमा से दशम स्थान में सूर्य आदि ग्रह स्थित हों तो सूर्य के स्थित होने से पिता से, चन्द्रमा के स्थित होने से माता से, मंगल हो तो शत्रु से, बृहस्पति हो तो भाई से, बुध हो तो मित्र से, शुक्र हो तो स्त्री से, शनैश्चर स्थित हो तो नौकर से धन की प्राप्ति होती है । नवांश पति के माध्यम से जातक की आजीविका बताते हुए आचार्य लिखते हैं कि लग्न, चन्द्र और सूर्य से दशम स्थान का स्वामी जिस नवांश में हो उसका स्वामी सूर्य हो तो तृण, सुवर्ण, ऊन, और औषधि से धन की प्राप्ति होती है । चन्द्रमा हो तो खेती करने से, जलज (मोती, शंखादि) के बेचने से और स्त्री के आश्रय से धन की प्राप्ति होती है । मंगल हो तो धातु (सोना चांदी आदि के) बेचने से अग्नि, प्रहरण (खड्ग, चक्र, कुन्त आदि) से और साहस से धन की प्राप्ति होती है ।

१- बृहज्जातक, अध्याय ६, श्लोक ८

बुध हो तो लेख, गणित, कविता और चित्र-निर्माण से धन की प्राप्ति होती है। शुक्र हो तो मणि, चांदी, गाय, और भैंस के द्वारा तथा शनैश्चर हो तो श्रम, बध, भारवाहन, एवं निन्दित कर्म के द्वारा धन की प्राप्ति होती है।[1] आचार्य वराहमिहिर के अतिरिक्त परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने जातक के जीविकोपार्जन का मार्ग बताया है। आचार्य मंत्रेश्वर ने वराहमिहिर के मत से कुछ भिन्न बातों को सुझाया है।[2]

आचार्य वराहमिहिर यवनाचार्य एवं जीवशर्मा के मतानुसार राजयोगों की चर्चा की है। वे लिखते हैं कि जिसके जन्म समय में एक से अधिक पापग्रह अपने उच्च स्थान में हों तो पापमति वाला राजा होता है। आचार्य के कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि यदि एक से अधिक शुभग्रह राजयोग कर रहे हों तो धर्मबुद्धि राजा होता है। पापग्रह शुभ-ग्रह दोनों अपने उच्च स्थान में हों तो मध्यम बुद्धि वाला राजा होता है। जीवशर्मा का मत है कि पापग्रह अपने उच्च स्थान में हों तो राजा नहीं किन्तु धनी होता है।[3] आचार्य वराहमिहिर ने ४४ प्रकार के राजयोगों

१- बृहज्जातक - अध्याय १०, श्लोक २, ३

२- फलदीपिका- अध्याय ५, कर्मजीवप्रकरण

३- बृहज्जातक - अध्याय ११, श्लोक १

की चर्चा की है यथा -- शनि लग्न में स्थित होकर मकर के पूर्वार्ध में, मंगल मेष में, चन्द्रमा कर्क में, सूर्य सिंह में, बुध मिथुन में और शुक्र तुला में हो तो जातक बड़ा यशस्वी राजा होता है।[1] इन राजयोगों की चर्चा करते हुए आचार्य लिखते हैं कि इन राजयोगों में उत्पन्न नीच जाति का भी जातक राजा होता है। राजवंश के जातक की बात ही कुछ और है। अर्थात् वह निश्चित ही राजा होता है।[2] बृहज्जातक में कहा गया है कि तीन या चार ग्रह बली होकर अपने उच्च मूल त्रिकोण में हों तो राजवंश में उत्पन्न जातक राजा होता है। अगर पांच, छः या सात ग्रह बली होकर अपने उच्च या मूल त्रिकोण को हों तो नीच कुल में उत्पन्न जातक राजा होता है। इससे अल्प अर्थात् तीन, चार ग्रह बली होकर उच्च या मूल त्रिकोण के हों तो राजा नहीं किन्तु धनवान् होता है।[3] आचार्य कल्याणवर्मा ने लिखा है कि यदि जन्म के समय में तीन या चार ग्रह अपने उच्च में या स्वमूल त्रिकोण में अथवा अपने घर में बलवान हो तो राजकुल में उत्पन्न पुरुष राजा होता है। यदि जन्म के समय पांच या

१- बृहज्जातक - अध्याय ११, श्लोक १०

२- वही - अध्याय ११, श्लोक १२

३- वही - अध्याय ११, श्लोक १३

ह: गृह पुर्वोक्त स्थिति में हो तो निम्न कुल में उत्पन्न जातक भी राजा होता है । यदि दो या एक गृह उच्च या मूल त्रिकोण में या स्वगृह में हो तो राजा के समान होता है न कि राजा ।[1] बृहत्पाराशर होराशास्त्र में भी ठीक यही बात कही गई है ।[2]

आचार्य वराहमिहिर दो प्रकार के राजयोगों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि वृष लग्न हो और चन्द्रमा, बृहस्पति, शनि शेष गृह क्रम से लग्न द्वितीय, षष्ठ, एकादश, इन स्थानों में स्थित हो तो जातक राजा का पुत्र हो तो राजा होता है । तथा बृहस्पति चतुर्थ में, चन्द्रमा, सूर्य दोनों दशम में शनैश्चर लग्न में और शेष गृह एकादश में हो तो राजा का पुत्र राजा और अन्य जातक धनीमात्र होता है ।[3] यहां बृहज्जातक के इस मत से कल्याण वर्मा का मतभेद है । बृहज्जातक में षष्ठभाव में शनि की सत्ता मानी गई है । जबकि कल्याण वर्मा का मत है कि यदि कुण्डली में वृष लग्न में चन्द्रमा, धनभाव में गुरु और तुला राशि में शुक्र, कन्या में बुध, मेष में भौम, सिंह राशि में सूर्य शेष गृह मीन राशि में हों तो

१- सारावली - अध्याय ३५, श्लोक २

२- बृहत्पाराशरहोराशास्त्र अल्पेरुच्चस्थितै: खेटै: राजा राजकुलोद्भव: ।
अन्य वंशभवस्तत्र राज तुल्यो धनैर्युत: ।।
अध्याय - ३४

३- बृहज्जातक - अध्याय ११, श्लोक १७

जातक चन्द्रमा की किरणों के समान यश वाला राजा होता है।[१] आचार्य के मत से चन्द्रमा दशम स्थान में, शनैश्चर एकादश में बृहस्पति लग्न में बुध मंगल दोनों द्वितीय स्थान में और शुक्र सूर्य दोनों चतुर्थ में हो तो जातक राजा का पुत्र राजा होता है। इसी प्रकार मंगल, शनि दोनों लग्न में, चन्द्रमा चतुर्थ में, बृहस्पति सप्तम में, शुक्र नवम में, सूर्य दशम में और बुध एकादश में हो तो राजकुल में उत्पन्न जातक राजा होता है।[२] सारावलीकार का भी कथन है कि यदि कुण्डली में शनि के साथ भौम लग्न में हो, सूर्य दशम भाव में, गुरु सप्तम भाव में, शुक्र नवम भाव में, बुध एकादश भाव में और चन्द्रमा चतुर्थ भाव में हो तो जातक राजवंश में पैदा होने पर अधिक यश वाला राजा और अन्य कुल में उत्पन्न धनी होता है।[३] आचार्य मंत्रेश्वर का कथन है कि यदि चन्द्रमा अपने अधिमित्र के अंश में हो और उस पर शुक्र की दृष्टि हो तो लक्ष्मीप्राप्ति के साथ-साथ उत्तम राजयोग होता है। इसी प्रकार उपर्युक्त योग में यदि चन्द्रमा पर बृहस्पति की दृष्टि हो तो भी जातक राजा होता

१- सारावली , अध्याय ३५, श्लोक १०२

२- बृहज्जातक - अध्याय ११, श्लोक १८

३- सारावली- अध्याय ३५, श्लोक १०५

है। एक अन्य आचार्य के मत से यदि दिन में जन्म हो और अपने या अधि-मित्र अंश में स्थित चन्द्रमा पर बृहज्जातक की दृष्टि हो तो राजयोग होता है और यदि रात में जन्म हो और अपने या अधिमित्र अंश में स्थित चन्द्रमा पर शुक्र की दृष्टि हो तो विशेष वैभव होता है।[१] अन्त में राजयोग की प्राप्ति का समय निर्धारित करते हुए आचार्य वराहमिहिर कहते हैं कि राज-योग कारक ग्रहों में जो ग्रह दशम या लग्न में बैठा हो उसकी दशा अन्तर्दशा में राज्य लाभ होता है। अगर दशम लग्न इन दोनों स्थानों में राजयोग कारक ग्रह हो तो उनमें जो बली हो उसकी दशा अन्तर्दशा में राज्यलाभ होता है। यदि उक्त दोनों स्थानों में बहुत राजयोग कारक ग्रह हों तो उनमें जो सबसे बली हो उसकी दशा अन्तर्दशा में राज्यलाभ होता है। उक्त दोनों स्थानों में कोई ग्रह न हो तो राजयोग कारक ग्रहों में जो सबसे अधिक बली हो उसकी दशा अन्तर्दशा में राज्य लाभ होता है। जो बली ग्रह शत्रु स्थान या नीच स्थान में स्थित हो उसकी दशा अन्तर्दशा छिद्र संज्ञक है। इस छिद्र संज्ञक दशा अन्तर्दशा में प्राप्त राज्य का नाश होता है। इसी प्रकार यदि निर्बल ग्रह शत्रु स्थान या नीच स्थान में स्थित हो, उसकी दशा अन्तर्दशा संशय संज्ञक है। इस दशा अन्तर्दशा में प्राप्त राज्य का नाश होता है, किन्तु

१- बृहज्जातक - पृ० २०६

देवता, राजा, इत्यादि के आश्रय से पुन: प्राप्त हो जाता है।[१]

आचार्य वराहमिहिर की भांति ही परवर्ती प्राय: सभी आचार्यों ने राजयोगों के लक्षण का निरूपण किया है। परवर्ती कतिपय आचार्यों ने आचार्य वराहमिहिर से भिन्न मतों को प्रकट किया है जैसे - मानसागरी[२] इत्यादि ग्रन्थों में कहा गया है कि तुला, धन, मीन राशियों का होकर लग्न में स्थित शनैश्चर राजयोग कारक है। इसी प्रकार जातकाभरण, जातकालंकार, जातकपारिजात, जातकदीपिका इत्यादि ग्रन्थों में भी प्राचीन आचार्यों के मत से कुछ भिन्न मत भी दिए गए हैं।

राज योगों का विधिवत् विवेचन करने के बाद आचार्य वराहमिहिर नाभसादि योगों के बारे में लिखते हुये ३२ भेदों को बताते हैं। वे लिखते हैं कि यवनाचार्य ने इन नाभसादि योगों का १८०० भेद बताया है जबकि आचार्य का कथन है कि इन बत्तीस योगों के अन्तर्गत उन १८०० योगों का फल आ जाता है। सर्वप्रथम आचार्य ने रज्जु योग, मुसल योग, नल योग तथा दो प्रकार के दल योगों की चर्चा की है। रज्जु आदि योगों की

१- बृहज्जातक - अध्याय ११, श्लोक १६

२- तुला कोदण्डमीनानां लग्नस्थोऽपिशनैश्चर: ।
करोति भूपतिंजन्म वंशस्य नृपतिर्भवेत् ।।
-मानसागरी राजयोगाध्याय, पृ० २६६

बनाने वाले ग्रहों की स्थिति को बताते हुये लिखते हैं कि सूर्य आदि सातों ग्रह एक दो तीन अथवा सभी ग्रह चर राशि में ही स्थित हों तो रज्जु योग, सभी ग्रह स्थिर राशि में स्थित हों तो मुसल योग, सभी ग्रह द्वि स्वभाव राशि में स्थित हो तो नल नाम का योग होता है।[1]

इसके अतिरिक्त आचार्य ने यव, अब्ज योग, वज्र योग, अंडज योग, गोलक योग, गदा योग शकट योग इन आकृति योगों के साथ-साथ गोलक शुभ शूल, केदार इन संख्या योगों का रज्जु मुसल नल आदि आश्रय योगों की तरह समान फल बताया है। आचार्य वराहमिहिर ने बिना नाम लिये हुये ही माला एवं सर्प नाम के दल योगों के फल को बताया है। वज्र योग की चर्चा करते हुये आचार्य लिखते हैं कि पहले बताये हुये शकट योग के समान शुभ ग्रह एवं अण्डज योग के समान पापग्रह हो तो वज्र नाम का योग होता है अर्थात् लग्न सप्तम में शुभ ग्रह चतुर्थ दशम में पापग्रह हो तो वज्र योग ~~हो तो पाप ग्रह~~ होता है।[2] बृहत्पाराशर होरा-

---

१- रज्जुर्मुसलं नलश्चराद्यैः सत्याश्चाश्रयजाज्जगाद योगान् ।
केन्द्रैः सदसद्युतैर्दलाख्यौ स्रक्सर्पौ कथितौ पराशरेण ॥
(बृहज्जातक १२ । २)

२- बृहज्जातक १२ । ५

शास्त्र में बज्र योग का लक्षण बताते हुये महर्षि पाराशर लिखते हैं कि शुभ ग्रह लग्न और सप्तम भाव में हो तथा पाप ग्रह, दशम और चतुर्थ भाव में हो तो बज्र योग होता है।[1]

सारावलीकार आचार्य कल्याण वर्मा ने बज्र योग की चर्चा करते हुये लिखते हैं कि यदि कुण्डली में लग्न और सप्तम भाव में सब शुभ ग्रह हों तथा चतुर्थ एवं दशम में सब पापग्रह हों तो बज्र नामक योग होता है।[2]

यहां आचार्यों का यह कथन कि लग्न एवं सप्तम में सभी शुभ ग्रह (बुध, गुरु, शुक्र, चन्द्र) और दशम एवं चतुर्थ में सभी पापग्रह (सूर्य, मङ्गल एवं शनि) के रहने से बज्र योग की स्थिति रहती है। सूर्य से बुध एवं शुक्र किसी भी स्थिति में चतुर्थ राशि में नहीं हो सकते अत: आचार्यों का बज्र योग विषयक यह कथन युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। सम्भवत: इसी बात को ध्यान में रखते हुये आचार्य ने लिखा है कि मय, यवन, मणित्थ आदि आचार्यों के कथनानुसार मैंने बज्र आदि योगों को कहा है क्योंकि इस योग के होने में प्रत्यक्ष दोष यह है कि ग्रहों में

१- बृहत्पाराशर होराशास्त्रम १४ । ११

२- सारावली २१ । १४

सूर्य पापग्रह और बुध शुक्र शुभ ग्रह सूर्य से चतुर्थ स्थान में बुध शुक्र कदापि नहीं होते हैं क्योंकि तीनों की गति प्राय: समान ही है । फल के वश एक राशि से ज्यादा अन्तर नहीं होता है अत: वज्र आदि योगों का होना असम्भव है ।[१]

इन योगों के साथ-साथ आचार्य ने यूप योग इषु योग, शक्ति योग, दण्ड योग, नौका योग, कूट योग, छत्र योग, चाप योग, अर्ध चन्द्र योग, समुद्र योग, चक्र योग तथा संख्या योग के अन्तर्गत वल्लकी योग, दामिनी योग, पाश योग, केदार योग, शूल योग, युग योग तथा गोल आदि योगों की चर्चा की है । आश्रयादि योगों का फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि रज्जु योग में उत्पन्न जातक ईर्ष्या-वान् परदेश में रहने वाला और मार्ग चलने में अभिरुचि रखने वाला होता है । मुसल योग में उत्पन्न जातक,अभिमानी, धनवान् और बहुत काम करने वाला होता है, नल योग में उत्पन्न जातक अङ्ग हीन दृढ़ निश्चय वाला, धनवान् एवं चतुर होता है । माला योग में उत्पन्न जातक भोगी होता है तथा सर्प योग में उत्पन्न जातक बहुत दु:ख भोगने

१- बृहज्जातक - अध्याय १२ । ६

वाला होता है।[१]

१- ईर्ष्युर्विदेशनिरतो ध्वरुचिश्च रज्ज्वां
मानी धनी च मुसले बहुकृत्यशक्तः ।
व्यङ्गः स्थिराढ्यनिपुणोनलजः प्रसूतो
भोगान्वितो भुजगजो बहुदुःखभाक्स्यात् ॥
(बृहज्जातक १२ । ११)

चन्द्र योग की चर्चा करते हुए सर्व प्रथम आचार्य वराहमिहिर ने सूर्य से चन्द्रमा के स्थानों को ध्यान में रखते हुये फलादेश किया है यथा जन्म समय में सूर्य जिस स्थान में हो उससे चन्द्रमा केन्द्र आदि (केन्द्र, पणफर, आपोक्लिम) में स्थित हो तो विनय, धन, शास्त्र का ज्ञान बुद्धि और चतुरता क्रम से अधम, मध्यम एवं श्रेष्ठ होता है । अर्थात् सूर्य से चन्द्रमा केन्द्र में हो तो नम्रता धन आदि इन सबों में अधम अर्थात् शून्यता होती है । यदि सूर्य से चन्द्रमा पणफर में हो तो मध्यम फल आपोक्लिम में हो तो श्रेष्ठ फल होता है । यवनाचार्य ने भी यही बात स्वीकार किया है ।[1]

आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि जिस जातक का जन्म दिन में हो, चन्द्रमा जिस किसी राशि में स्थित होकर अपने या अपने अधिमित्र के नवमांश में हो और बृहस्पति से देखा जाता हो तो धनवान् एवं सुखी होता है तथा यदि रात्रि में जन्म हो, चन्द्रमा अपने या अपने अधिमित्र के नवांश में हो और शुक्र से देखा जाता हो तो जातक धनवान् एवं सुखी होता है ।[2]

१- मुखान्दरिद्रारचपलान्विपरीतांश्चन्द्रः
प्रसूतेऽर्कचतुष्टयस्य: ।

- वृद्धयवन जातक

२- बृहज्जातक १३। १

चन्द्राधि योग की चर्चा करते हुये आचार्य लिखते हैं कि चन्द्रमा से शुभग्रह (बुध, गुरु, शुक्र) सप्तम, षष्ठ, अष्टम इन तीनों स्थानों में अथवा इनमें से दो में अथवा किसी एक ही स्थान स्थित हो तो अधि योग नाम का योग होता है। सारावलीकार आचार्य कल्याण वर्मा इस योग को राजयोग मानते हैं। इनका कहना है कि यदि कुण्डली में चन्द्रमा से छठें सातवें,आठवें भाव में पाप ग्रहों से अदृष्ट सूर्य की राशि (सिंह) को त्यागकर सब शुभ ग्रह विद्यमान् हो तो जातक राजा होता है जिसकी सेना के मतवाले हाथियों के मदजल का समुद्र के तट पर्यन्त वन में उत्पन्न हुये भौंरे बार-बार पान करते हैं।[1]

इसके पश्चात् आचार्य वराहमिहिर पूर्वाचार्यों की भांति ही सुनफा, अनफा, दुरधुरा एवं केमद्रुम नामक योगो का वर्णन किया है। चन्द्रमा से द्वितीय स्थान में सूर्य को छोड़कर अन्य पंचग्रहों में से कोई एक ग्रह वर्तमान हो तो सुनफा नामक योग होता है। इसी प्रकार चन्द्रमा से द्वादश स्थान में सूर्य से रहित पञ्चग्रहों में से कोई ग्रह हो तो अनफा नाम का योग होता है तथा चन्द्रमा से द्वितीय एवं द्वादश दोनों स्थान में सूर्य को छोड़कर ग्रह बैठे हों तो दुरधुरा योग एवं द्वितीय एवं द्वादश में कोई

१- सारावली - अध्याय ३५ । २१

ग्रह न हो तो केमद्रुम योग होता है। आचार्य का मत है कि किसी अन्य ग्रह के साथ चन्द्रमा हो या जन्म लग्न से केन्द्र स्थान में स्थित हो तो केमद्रुम योग भङ्ग हो जाता है। आचार्य वराहमिहिर ने सुनफा अनफा इन दोनों योगों के ३१-३१ भेद, दुर्धरा का १८० भेद माना है।[१]

सुनफा अनफादि योगों का फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि सुनफा योग में उत्पन्न जातक अपने आप धन को उपार्जन करने वाला राजा या राजा के समान श्रेष्ठ बुद्धि वाला किन्तु अनफा योग में उत्पन्न जातक समर्थ रोगरहित शरीर वाला, अच्छे स्वभाव वाला यशस्वी सांसारिक सुख से युत सुन्दर शरीर वाला और सन्तुष्ट होता है इसी प्रकार दुरधुरा योग में उत्पन्न जातक जहां कहीं जिस किसी तरह से उत्पन्न योग के द्वारा सुख भोगने वाला धन वाहन से युत दानी और सुन्दर भृत्य से युक्त होता है। किन्तु केमद्रुम योग में उत्पन्न जातक मलिन दुखित नीच कर्म करने वाला निर्धन, दास कर्म करने वाला एवं दुष्ट होता है। इन योगों में उत्पन्न जातकों के फलों को बताते हुये आचार्य कहते हैं कि इन उपर्युक्त योगों में राजकुलोत्पन्न जातक भी कथित फल को पाते हैं, अन्य की क्या

१- बृहज्जातक - अध्याय १३ । ५

जात ? अर्थात् अन्य वंश में उत्पन्न जातक तो अवश्य पाता है ।[१]

आचार्य कल्याण वर्मा ने आचार्य की ही भांति सुनफादि योगों का विवेचन किया है ।[२]

आचार्य वैद्यनाथ ने भी आचार्य वराहमिहिर का ही अनुकरण किया है ।[३]

सुनफादि योगकारक भौमादि ग्रहों का पृथक्-पृथक् फल वर्णन करते हुये आचार्य लिखते हैं कि यदि उक्त योग करने वाला मङ्गल हो तो जातक उत्साही संग्राम का प्रेमी, धनवान् एवं साहसी होता है यदि बुध हो तो जातक चतुर मधुर वचन बोलने वाला और कलाओं में निपुण होता है । यदि बृहस्पति हो तो जातक धनी सुखी और राजाओं से पूजित होता है । यदि शुक्र हो तो जातक कामी, बहुत धनी और विषयों का भोग करने वाला होता है, इसी प्रकार यदि शनि योग कारक हो तो जातक दूसरे के विभव (घर, कपड़ा, वाहन, परिवार) को भोगने वाला, बहुत काम करने वाला और अनेक गणों का अधिप होता है ।

१- बृहज्जातक १३ । ५-६

२- सारावली १३ । ४-५-६

३- जातकपारिजात ७। ८४-८५

यदि दिन में जन्म हो तो चन्द्रमा दृश्य चक्रार्ध (सप्तम स्थान से लग्नपर्यन्त) में स्थित हो तो अशुभ फल और अदृश्य चक्रार्ध (लग्न से सप्तम पर्यन्त) में स्थित हो तो शुभ फल देता है । इसी प्रकार यदि रात्रि में जन्म हो और चन्द्रमा दृश्य चक्रार्ध में स्थित हो तो शुभ फल और अदृश्य चक्रार्ध में हो तो अशुभ फल देता है । लग्न और चन्द्रमा से उपचय स्थान में स्थित शुभग्रहों का फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिस जातक के जन्म समय में लग्न से उपचय (३, ६, १०, ११) स्थान हो, सभी शुभग्रह बैठे हों तो वह बहुत धनी होता है । अगर चन्द्रमा से उक्त स्थानों में सभी शुभग्रह बैठे हों तो धनी होता है । यदि शुभ ग्रहों में से कोई उक्त स्थानों में हो तो मध्यम धनी होता है । यदि एक ही शुभग्रह उक्त स्थानों में से किसी स्थान में हो तो अल्प धनी होता है । यदि उक्त स्थानों में कोई भी शुभग्रह न हो तो जातक दरिद्र होता है । केमद्रुमादि कुयोग होने पर भी उनका फल न हो करके इन योगों का फल होता है ।[१]

एक ही स्थान में दो ग्रहों की युति का विधिवत् विवेचन

१- बृहज्जातक १३ । ६

करते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिसके जन्म समय में चन्द्रमा सूर्य से युत हो तो जातक यन्त्र और पत्थर को बीज बनाने वाला होता है । बुध से सूर्य युत हो तो सब काम करने में चतुर बुद्धिमान् कीर्तिमान् एवं सुखी होता है । बृहस्पति से सूर्य युत हो तो पाप बुद्धि वाला और दूसरे का काम करने वाला होता है । शुक्र से सूर्य युत हो तो युद्ध एवं शस्त्र से धन पैदा करने वाला होता है । शनि से सूर्य युत हो तो सोना चांदी आदि धातु-कर्म एवं बर्तन बनाने में चतुर होता है । इसी तरह जिसके जन्म काल में मङ्गल से चन्द्रमा युत हो तो बाजार को बोध स्त्री मद्य एवं घड़ा बेचने वाला तथा मां को कष्ट देने वाला होता है । बुध से युत चन्द्रमा हो तो प्रिय बोलने वाला शब्दार्थ जानने में सूक्ष्म दृष्टि वाला और सबका प्रिय होने के कारण कीर्ति से युत होता है । बृहस्पति से युत चन्द्रमा हो तो शत्रु को जीतने वाला अपने कुल में प्रधान चञ्चल बुद्धि वाला एवं धन का अधीश होता है । शुक्र से युत चन्द्रमा हो तो वस्त्रों के क्रय-विक्रय में कुशल और वस्त्र सीना एवं सूत बनाना इत्यादि में कुशल होता है । शनि से युत चन्द्रमा हो तो पुनर्भू (पहले स्वामी को छोड़कर दूसरे स्वामी से विवाह करने वाली स्त्री) का पुत्र होता है ।[१] जबकि आचार्य ढुण्ढिराज चन्द्रमा से शनि की युति का फल बताते लिखते हुए

१- बृहज्जातक - अध्याय १४ । १-२

हैं कि इस योग में उत्पन्न जातक अनेक स्त्रियों से प्रीति करने वाला वेश्यागामी, दुराचारी, परजात एवं धन हीन होता है।[१]

पुन: बुधादि ग्रहों से युत मङ्गल का फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि बुध से युत मङ्गल हो तो वह मूल फल पुष्प, तेल, छत्र आदि और बाजार की चीजों को बेचने वाला और मल्ल युद्ध में कुशल होता है जबकि आचार्य कल्याण वर्मा का कथन है कि यदि कुण्डली में भौम के साथ बुध स्थित हो तो जातक स्त्री के द्वारा भाग्यहीन लघु धनी सुवर्ण लोहे का कार्य करने वाला कारीगिर, दुश्चरिता व विधवा स्त्री का पोषक अथवा प्रेमी तथा दवा बनाने में चतुर होता है।[२] प्रकारान्तर से यही बात वैद्यनाथ ने भी स्वीकार किया है।[३]

बृहस्पति से युत मङ्गल हो तो नगर का स्वामी राजा या धन पाने वाला ब्राह्मण होता है। शुक्र से युत मङ्गल हो तो गाय पालने वाला बाहु से युद्ध करने वाला चतुर, पर स्त्रियों में प्रेम करने वाला और

१- जातकाभरणम् द्विग्रहयोगाध्याय, श्लोक - ११

२- सारावली १५।१३

३- जातक पारिजात ८। ३

जुआरी होता है । शनि से युत मङ्गल हो तो दु:ख से पीड़ित, मिथ्या बोलने वाला एवं निन्दित होता है । इसी प्रकार जिसके जन्म काल में बुध से युत बृहस्पति हो तो बाहु युद्ध करने वाला गान में स्नेह करने वाला एवं नाच जानने वाला होता है । शुक्र से युत बुध हो तो बोलने में चतुर, पृथवी एवं बहुत लोगों का मालिक होता है । शनि से युत बुध हो तो दूसरों को ठगने में चतुर एवं गुरुजनों की आज्ञा को न मानने वाला होता है । शुक्र से युत बृहस्पति हो तो श्रेष्ठ विद्वान् धनवान् स्त्री से युत एवं बहुत गुणों से युत होता है । शनि से युत बृहस्पति हो तो, हजाम, कुम्हार या रसोइयां होता है ।[१]

शुक्र शनि के युति का फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिसके जन्म काल में शनि से युत शुक्र हो वह थोड़ी दृष्टि वाला स्त्री के आश्रय से धन की वृद्धि करने वाला लिखने पढ़ने वाला और चित्र बनाने वाला होता है ।

इसी प्रकार तीन गृहों की युति का फलादेश करते हुये आचार्य लिखते हैं कि यदि तीन गृहों का एक स्थान में योग हो तो दो-दो गृहों का अलग-अलग फल पूर्वोक्त प्रकार से जानकर उन सब फलों को

१- बृहज्जातक १४ । ४

कहना चाहिये ।[१]

प्रव्रज्यादि योगों का विवेचन करते हुये आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि जिसके जन्म काल में चार-पांच ग्रह एक स्थान में बैठे हों तो प्रव्रज्या योग होता है । इन ग्रहों में से जो ग्रह बली होते हैं उसी ग्रह के अनुरूप जातक संन्यासी होता है जैसे मङ्गल बलवान् हो तो लाल वस्त्र धारी, बुध बलवान् हो तो एक दण्ड को धारण करने वाला, बृहस्पति बलवान हो तो भिक्षुक संन्यासी चन्द्रमा बली हो तो वृद्ध श्रावक (कापालिक) शुक्र बली हो तो चक्र धारण करने वाला, शनैश्चर बलवान् हो तो नंगा सन्यासी, सूर्य बलवान् हो तो कन्दमूल फल खाने वाला होता है । यदि एकत्र स्थिति चार पांच ग्रहों में से कोई भी ग्रह बलवान् न हो तो प्रव्रज्या योग नहीं होता । यदि प्रव्रज्या योग कारक एक ग्रह युद्ध में पराजित हो तो जातक उस ग्रह की अन्तर्दशा में संन्यास ग्रहण करके फिर छोड़ देता है । अगर प्रव्रज्या योग कारक दो ग्रह हो तो प्रथम प्रव्रज्या योग कारक ग्रह की अन्तर्दशा में प्रथम प्रव्रज्या को ग्रहण कर द्वितीय प्रव्रज्या योग कारक ग्रह के अन्तर्दशा काल में उसको छोड़कर दूसरे को ग्रहण करके कतिपय दिनों के पश्चात् उसको भी छोड़ देता है ।

आचार्य का कथन है कि यदि प्रव्रज्या में योग कारक ग्रह

१- बृहज्जातक १४ । ५

बली हो किन्तु सूर्य की किरण से अस्त हो तो बिना मन्त्रोपदेश के जातक संन्यासी हो जाता है। किन्तु जिस प्रव्रज्या योग में जन्म हो उस प्रव्रज्या को ग्रहण करने वालों में भक्ति होती है। यदि प्रव्रज्या योग करने वाले ग्रह दूसरे ग्रह से जीते गये हो या देखे जाते हों मनुष्य उक्त ग्रह सम्बन्धी प्रव्रज्या-योग की दीक्षा देने के लिये अपने गुरु योग्य साधुओं से प्रार्थना करता है किन्तु वे दीक्षा देने के लिये स्वीकार नहीं करते हैं। पुन: इसी प्रकार शास्त्र बनाने का एवं तीर्थ करने के योगों का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं कि बृहस्पति चन्द्रमा लग्न इन तीनों के ऊपर शनैश्चर की दृष्टि हो, बृहस्पति नवम् स्थान में हो तो किसी राजयोग में उत्पन्न जातक राजा न होकर तीर्थ करने वाला एवं शास्त्र करने वाला होता है। इसी प्रकार जिसके जन्म काल में नवम् भवन में गत शनैश्चर किसी भी ग्रह से नहीं देखा जाता हो तो राज-योग में उत्पन्न जातक महाराज होकर भी किसी संन्यासी के मन्त्र को ग्रहण कर साधु हो जाता है। यदि राजयोग न हो तो केवल प्रव्रज्या योग्य ही पाता है।[१]

१- बृहज्जातक १५ । ४

विभिन्न नक्षत्रों का पृथक्-पृथक् फलादेश करते हुये सर्वप्रथम अश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न जातक का लक्षण बताते हुये कहते हैं कि जिस मनुष्य का जन्म अश्विनी नक्षत्र में हो वह अलङ्कार का प्रेमी सुन्दर सभी का प्रिय सब काम करने में चतुर एवं बुद्धिमान् होता है । भरणी नक्षत्र में उत्पन्न जातक जिस कार्य का प्रारम्भ करे उसे सिद्धि करने वाला, सत्य बोलने वाला नीरोग चतुर एवं सुखी होता है । कृत्तिका नक्षत्र का जातक अधिक भोजन करने वाला, दूसरों की स्त्री के साथ रहने वाला किसी का नहीं सहने वाला और विख्यात होता है । रोहिणी नक्षत्र का जातक सत्य बोलने वाला पवित्र प्रिय बोलने वाला, स्थिर बुद्धि वाला और सुन्दर रूप वाला होता है । मृगशिरा का जातक चञ्चल, चतुर, भय से पीड़ित, पटु उत्साही, धनी एवं भोग करने वाला होता है, आर्द्रा नक्षत्र में उत्पन्न जातक शठ, अभिमानी दूसरे के कृत्यों का नाश करने वाला जन्तुओं का वध करने वाला एवं पापी होता है । पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न जातक इन्द्रियों को वश में करने वाला सुखी सुन्दर स्वभाव वाला, दुर्बुद्धि, रोगी, तृषा से युत और थोड़े से ही प्रसन्न होने वाला होता है । पुष्यनक्षत्र का जातक शान्ति प्रकृतिवाला सबों का प्रिय पण्डित धनी और धर्म से युत होता है । आश्लेषा नक्षत्र में उत्पन्न जातक शठ खाद्य एवं अखाद्य सबों को पाने वाला

पापी अन्य के कृत्यों को नाश करने वाला और धूर्त होता है । मघा नक्षत्र में उत्पन्न जातक बहुत भृत्य एवं धन से युक्त भोगी देवता तथा पितर में भक्ति करने वाला एवं अत्यन्त उद्यमी होता है । पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न जातक प्रिय वचन बोलने वाला दानी कान्ति से युक्त भ्रमण करने वाला और राजाओं का सेवक होता है । उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न जातक सभी का प्रिय विद्या से धनोपार्जन करने वाला भोगी एवं सुखी होता है । हस्त नक्षत्र में उत्पन्न जातक उत्साही प्रतिभा से युत अथवा निर्लज्ज मद्यपान करने वाला निर्दयी एवं चोर होता है ।[१] आचार्य ढुण्ढिराज की अवधारणा है कि हस्तनक्षत्र में उत्पन्न जातक दाता मनस्वी अतियश वाला देव एवं ब्राह्मणों का भक्त तथा सब प्रकार की सम्पत्ति से सम्पन्न होता है ।[२] चित्रा नक्षत्र में उत्पन्न जातक अनेक रंग के वस्त्र और माला को धारण करने वाला सुन्दर नेत्र और सुन्दर शरीर वाला होता है । स्वाती नक्षत्र में उत्पन्न जातक इन्द्रियों को वश में करने वाला व्यापार करने वाला, दयालु, प्रिय वचन बोलने वाला धर्म के आश्रय में रहने वाला होता है । विशाखा का जातक दूसरे की उन्नति

१- बृहज्जातक, अध्याय १६ । ७

२- जातकाभरणम्, पृष्ठ ३२ । १३

में मत्सर कान्तिमान् बोलने में चतुर एवं झगडालू होता है । अनुराधा का जातक धनवान् परदेशी अधिक क्षुधा से पीड़ित एवं भ्रमण करने वाला होता है ।ज्येष्ठा नक्षत्र में उत्पन्न जातक अधिक मित्रों से रहित सन्तुष्ट, धर्म करने वाला और अधिक क्रोध करने वाला होता है । मूल नक्षत्र में उत्पन्न जातक मानी,धनवान्, सुखी, हिंसा कर्म से रहित स्थिर बुद्धि वाला एवं भोगी होता है । पूर्वाषाढ़ में उत्पन्न जातक अपने अभीष्ट आनन्द देने वाली स्त्री से युत् अभिमानी और अच्छे मित्रों से युक्त होता है । उत्तराषाढ़ नक्षत्र का जातक विशेष नम्र स्वभाव वाला धार्मिक बहुत मित्रों से युत् कृतज्ञ तथा सर्वप्रिय होता है । श्रवण नक्षत्र का जातक श्रीमान् पण्डित उदार स्त्री से युत् धनी एवं विख्यात् होता है । धनिष्ठा नक्षत्र का जातक दानी, धनी गीत-वाद्यादि का प्रेमी एवं लोभी होता है । शतभिषा नक्षत्र का जातक स्पष्टवादी, अनेक व्यसन में आसक्त, शत्रुओं को नाश करने वाला साहसी तथा दुर्ग्राह्य होता है । पूर्वा भाद्रपद का जातक दु:खित चित्त वाला स्त्री के वश में रहने वाला धनी पण्डित एवं कृपण होता है । उत्तराभाद्रपद का जातक वक्ता सुखी सन्तति से युक्त शत्रुओं को जीतने वाला एवं धर्माचरण करने वाला होता है । इसी प्रकार रेवती नक्षत्र में उत्पन्न जातक सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त सर्वप्रिय, शूर, पवित्र एवं धनवान् होता है ।[1] परवर्ती सभी आचार्यों ने आचार्य वराहमिहिर के

१- बृहज्जातक - १६ अध्याय

पूर्वोक्त मत का समर्थन ही किया है ।

आचार्य वराहमिहिर ने मेषादि द्वादश राशियों में उत्पन्न जातकों को फल का विधिवत् निरूपण किया है । मेषराशि में स्थित चन्द्रमा का फल बताते हुये लिखते हैं कि जिसके जन्म काल में मेषराशि में चन्द्रमा बैठा हो वह गोल एवं लाल नेत्रों से युक्त, उष्णवस्तु, शाक तथा थोड़ा खाने वाला जल्दी प्रसन्न होने वाला, भ्रमण करने वाला कामी, दुर्बल जांघ वाला, अस्थिर धन वाला, शूर स्त्रियों का प्रिय भृत्य कर्म को जानने वाला, बुरे नखों से युक्त, व्रण से युक्त, मस्तक वाला, अभिमानी सभी भाइयों में श्रेष्ठ, हाथ में शक्ति नामक हथियार के चिह्न वाला बहुत चंचल प्रकृति वाला और जल से भय करने वाला होता है ।[१]

वृष राशि का जातक सुन्दर रूप वाला क्रीड़ा को जानने वाला, मोटी जांघ तथा मोटा मुख वाला, पीठ, मुख, तथा पार्श्व में किसी चिह्न से युक्त दाता, क्लेश सहन करने वाला सबको उपदेश करने वाला भारी गरदन वाला बहुत कन्या पैदा करने वाला, कफ प्रकृति वाला पहले के बन्धु धन और पुत्र से वियुक्त, सबों का प्रिय, क्षमा करने वाला बहुत भोजन करने वाला, स्त्रियों का प्रिय स्थिर मित्र से युक्त मध्य तथा अन्त्य अवस्था में

१- बृहज्जातक १७ । १

सुखी होता है ।

मिथुनराशि का जातक स्त्री का लोलुप कामशास्त्र में कुशल, लाल नेत्रों से युक्त शास्त्र का ज्ञाता, दूत कर्म करने वाला, कुटिल केशों से युक्त, चतुर, दूसरे के व्यङ्‌ग्य को जानने वाला जुआरी, सुन्दर देह वाला, प्रिय बोलने वाला, बहुत भोजन करने वाला, गीत वाद्य में प्रेम करने वाला, नाच जानने वाला, हिजड़ों के साथ प्रेम करने वाला और ऊंची नाक वाला होता है ।[१]

कर्कराशि का जातक कुटिल तथा शीघ्र चलने वाला ऊंचा जघन वाला प्रेमवश स्त्रियों के अधीन अच्छे मित्रों से युक्त, ज्योतिष शास्त्र को जानने वाला, चन्द्रमा के समान क्षीण धन वाला, छोटा शरीर वाला मोटे गले वाला, स्नेह से वश में आने वाला, मित्रों का प्रिय और जलाशय तथा बगीचे में प्रेम रखने वाला होता है ।

सिंह राशि का जातक तीक्ष्ण स्वभाव वाला, मोटी ठोढ़ी वाला, बड़ा मुख वाला, पीले नेत्रों से युक्त, थोड़ी सन्तान वाला, स्त्री से द्वेष करने वाला, मांस, वन, पर्वत में प्रीति करने वाला, अधिक काल तक बेमतलब क्रोध करने वाला, भूख, प्यास, पेट, दांत एवं अन्त:करण के रोगों

१- बृहज्जातक १७ । ३

से पीड़ित, दानी, पराक्रमी, स्थिर मतिवाला, अभिमानी एवं माता का भक्त होता है।

कन्याराशि का जातक लज्जा से आलस युक्त, मनोहर दृष्टि वाला तथा लज्जा से मन्द-मन्द सुन्दर गमन करने वाला झुके हुये स्कन्ध तथा भुजा वाला सुखी देखने में सुन्दर सत्य बोलने वाला, सब कलाओं में निपुण, शास्त्रार्थ जानने वाला, धर्मात्मा, बुद्धिमान्, सुरतप्रिय, दूसरे के घर एवं धन से युक्त, परदेश में रहने वाला, कोमल वचन बोलने वाला, बहुत कन्या एवं थोड़े पुत्र वाला होता है।[1]

तुलाराशि का जातक देवता, ब्राह्मण एवं साधुओं के पूजन में तत्पर, पण्डित, पवित्र मन वाला, स्त्रियों के वश में रहने वाला, उच्च शरीर वाला, ऊंची नाक वाला, पतला एवं चंचल शरीर वाला, भ्रमण करने वाला, धन से युक्त, किसी अड्.ग से हीन, क्रय एवं विक्रय में चतुर, देवता के पर्याय-वाची द्वितीय नाम से युक्त, रोग युक्त, बन्धुओं का उपकारी तथापि उनसे अनादृत एवं त्यक्त होता है।

वृश्चिक राशि का जातक बड़े नेत्र एवं बड़ी छाती वाला गोला जंघा, उरू तथा जानुवाला पिता एवं गुरू से रहित बाल्यावस्था में

१- बृहज्जातक १७।६

व्याधि से युक्त राजा के कुल से पूजित, पीतवर्ण से युक्त, क्रूर स्वभाव वाला, मछली वज्र और पक्षी से चिह्नित पांव वाला एवं छिपकर पाप कर्म करने वाला होता है ।

धनुराशि का जातक लम्बे मुंख एवं ग्रीवा से युक्त, पिता के उपार्जित धन से युक्त दानी कवि, बलवान्, वक्ता, मोटे दांत वाला, बड़े कान वाला स्थूल ओठ वाला, मोटी नाक वाला, कार्यों को करने वाला शिल्प कार्य में पण्डित, छोटा स्कन्ध वाला खराब नख से युक्त, मोटी भुजा वाला, प्रगल्भ धर्म को जानने वाला बन्धुओं का शत्रु, हठ से वश में न होने वाला, केवल शान्तिभाव से वश में आने वाला होता है ।

मकर राशि का जातक सदा अपनी स्त्री एवं पुत्रों को प्यार करने वाला मिथ्या धर्म करने वाला कमर से नीचे दुर्बल, सुन्दर नेत्रों से युक्त, पतली कमर वाला, बड़ों का उपदेश मानने वाला, सौभाग्य से युत, आलसी, सर्दी को न सहने वाला, भ्रमण करने वाला बलवान्, काव्यकर्ता, लोभी अगम्य एवं वृद्धा स्त्री के साथ गमन करने वाला निर्लज्ज एवं निर्दयी होता है ।

कुम्भ राशि का जातक ऊंट के सदृश गलेवाला, सम्पूर्ण शरीर में प्रकट नस वाला, रूखे तथा अधिक रोम युक्त लम्बे शरीर वाला, स्थूल पैर

१- बृहज्जातक १७ । ६-९

तथा पैर के बोझ पीठ, जंघा, मुख एवं पैर वाला पराये की स्त्री पराये का धन एवं पाप कर्म में आसक्त रहने वाला, किसी समय हानि एवं किसी समय वृद्धि से युक्त, फूल चन्दन एवं मित्र से प्यार करने वाला तथा भ्रमणशील होता है ।

मीन राशि का जातक जल से निकले हुये धन और दूसरे के धन को भोगने वाला, स्त्री, वस्त्र में प्रीति करने वाला, समान शरीर वाला, ऊंची नाक वाला, बड़ा शिर वाला, शत्रुओं का पराजय करने वाला, स्त्रियों को वश में करने वाला, सुन्दर नेत्रों से युक्त, किसी के गड़े हुये धन से भोग करने वाला एवं पण्डित होता है ।[1]

आचार्य वैद्यनाथ कतिपय अन्तर के साथ राशियों के फलों को बताया है ।[2]

जातकाभरणकार आचार्य ढुण्ढिराज वराहमिहिर से भिन्न अधिकांश राशि फलाध्यायों का वर्णन अपने मत से किया है ।[3]

आचार्य वराहमिहिर पूर्वोक्त राशिफलों में तारतम्य बताते हुये लिखते हैं कि जन्म काल में जिस राशि में चन्द्रमा बैठा हो वह राशि एवं

---

१ - बृहज्जातक १८।१२
२- जातकपारिजात ६।६२-६४
३- जातकाभरणम, पृष्ठ १७६-१७७

उसका स्वामी बली हो तथा चन्द्रमा पूर्ण बली हो तो पूर्वोक्त मेषादि द्वादश राशियों का फल सम्पूर्ण होता है। अगर चन्द्राधिष्ठित राशि उसका स्वामी एवं चन्द्रमा इन तीनों में से दो बलवान् हो तो मध्यम रूप से फल होता है, उनमें एक ही बलवान् हो तो हीन रूप से फल कहना चाहिये। यदि कोई बलवान् न हो तो उक्त फल कुछ नहीं होता है[१]।

नक्षत्रों एवं राशियों का पृथक्-पृथक् फल वर्णन करने के पश्चात् आचार्य वराहमिहिर सूर्यादि ग्रहों का विभिन्न राशियों में स्थित होने के फलों का वर्णन किया है जैसे सूर्य मेषराशि में उच्चांश को छोड़कर स्थित हो तो जातक विख्यात, चतुर, भ्रमण करने वाला, थोड़े धन से युक्त और शस्त्र धारण करने वाला है, जबकि उच्चांश में स्थित होने पर सभी शुभ फल होते हैं। वृष राशि में स्थित होने से वस्त्र सुगन्धि, द्रव्य और क्रय-विक्रय से जीविका करने वाला स्त्रियों से शत्रुता करने वाला तथा गीत-वाद्य में कुशल होता है। मिथुन राशि के सूर्य में जातक ज्योतिष शास्त्र का ज्ञाता एवं धनवान् होता है। कर्कराशि के सूर्य का जातक तीक्ष्ण स्वभाव वाला दरिद्र, दूसरे के कार्यों को करने वाला होता है। सिंह राशि का वन पर्वत एवं गोकुल में प्रीति करने वाला, बलवान् एवं मूर्ख होता है कन्या के सूर्य

१- बृहज्जातक १७। ३

का जातक लेख का कार्य करने वाला चित्र बनाने वाला, काव्य जानने वाला एवं गणितज्ञ होता है । तुलाराशि के सूर्य का जातक मद्य विक्रेता, मद्य बनाने वाला, भ्रमण करने वाला, सोने के काम करने वाला एवं नीच कर्म करने वाला होता है । वृश्चिक के सूर्य में क्रूर स्वभाव, साहसी विष के सम्बन्ध से धन कमाने वाला, धनु राशि के सूर्य में सज्जनों से पूजित धनवान् तीक्ष्ण स्वभाव, वैद्य तथा शिल्पज्ञ होता है । मकर राशि के सूर्य में नीच कर्म करने वाला मूर्ख निन्द्य व्यापार करने वाला थोड़े धन वाला लोभी अल्पभाग्य वाला, कुम्भराशि के सूर्य का जातक नीच कर्म करने वाला पुत्र एवं भाग्य से हीन तथा निर्धन होता है मीन राशि के सूर्य का जातक जल से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने वाला तथा स्त्रियों से पूजित होता है ।[1]

जिस जातक के जन्म काल में मङ्गल अपने घर का हो वह राजाओं से पूजित, भ्रमण करने वाला, सेनापति, व्यापार करने वाला एवं धनी होता है । यदि शुक्र के घर में स्थित हो तो स्त्री के वश में रहने वाला, मित्रों से विरुद्ध रहने वाला, परायी स्त्री में गमन करने वाला, इन्द्र जाल-विद्या जानने वाला, अनेक अलङ्कारों से युक्त, भययुक्त एवं कठोर होता है । बुध की राशि में स्थित मङ्गल का जातक तेजस्वी, पुत्रवान्, मित्र से हीन,

---

१- बृहज्जातक १८ । १०४

कृतज्ञ, मानविधा, युद्ध में कुशल, कृपण, मयरहित, याचक होता है, कर्क राशि में मङ्गल के होने से जातक धनवान्, नौका से धन उपार्जन करने वाला, पण्डित, किसी अङ्ग से हीन एवं दुष्ट होता है । सिंहस्थ मङ्गल में जातक निर्धन, क्लेश सहन करने वाला कारण वश वन में घूमने वाला अल्प स्त्री एवं सन्तान वाला, बृहस्पति की राशि में स्थित मङ्गल होने से जातक बहुत शत्रुओं से युक्त, राजा का मन्त्री, प्रसिद्ध, निर्मम एवं अल्प सन्तान वाला होता है । कुम्भस्थ राशि के मङ्गल के जातक को दुःखों से पीड़ित धन से हीन भ्रमण करने वाला झूठ बोलने वाला और तीक्ष्ण स्वभाव का करता है । जबकि मकर राशिस्थ मङ्गल में जातक बहुत धन और सन्तान से युक्त तथा राजा के समान होता है ।[१]

जिस जातक के जन्म काल में मङ्गल के घर में बुध स्थित हो वह जुआरी, ऋणी, मद्यादि पान करने वाला, नास्तिक, चोर, दरिद्र, दूषित, स्त्री से युक्त, दाम्भिक असत्य बोलने वाला होता है । जबकि शुक्रराशिस्थ बुध का जातक लोगों को उपदेश करने वाला बहुत पुत्र एवं स्त्री वाला, धन के उपार्जन में तत्पर दाता और गुरुजनों में भक्ति करने वाला होता है । मिथुन राशि के बुध में असत्य बोलने वाला शास्त्र कला में चतुर, प्रिय बोलने वाला एवं सुखी

१- बृहज्जातक १८ । ५-६-७

होता है। कर्कस्थ बुध में जल के सम्बन्ध से धन कमाने वाला और अपने बन्धु जनों का शत्रु होता है। सिंहस्थ बुध का जातक स्त्री का अप्रिय, निर्धन, सुख से हीन, सन्तान से हीन, भ्रमण करने वाला मूर्ख और सज्जनों से तिरस्कृत होता है। कन्या राशिस्थ बुध में जातक दाता, पण्डित, बहुत गुणों से युक्त, सुखी, क्षमा करने वाला, स्वकार्यादि साधन के लिये अनेक युक्तियों को जानने वाला एवं निर्भय होता है। शनिगृहस्थ बुध में जातक दूसरे का काम करने वाला निर्धन, चित्र बनाने की बुद्धि वाला ऋणी और गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने वाला, गुरु राशिस्थ बुध में जातक राजाओं से पूजित पण्डित यथार्थ वक्ता, नौकरों को वश में करने वाला तथा वृद्धावस्था में शिल्प-विद्या का ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है।[१]

कुजराशिस्थ बृहस्पति का जातक सेनापति बहुत धन स्त्री, सन्तान से युक्त, दानी, सुन्दर नौकरों से युक्त क्षमा करने वाला तेजस्वी, उदार गुण से युक्त एवं प्रसिद्ध होता है। शुक्र राशिस्थ बृहस्पति का जातक स्वस्थ शरीर वाला, सुख, धन मित्र एवं पुत्रों से युक्त, दाता तथा सबों का प्रिय होता है। बुध राशिस्थ बृहस्पति में जातक बहुत वस्त्रादि गृह-सामग्री, बहुत सन्तान और बहुत मित्रों से युक्त मन्त्री तथा सुखी होता है। कर्कस्थ बृहस्पति का जातक रत्न

१- बृहज्जातक १८। ८-११

पुत्र, धन, स्त्री अनेक तरह के वैभव, उत्कृष्ट बुद्धि एवं सुख से युक्त होता है। यही फल सिंहस्थ बृहस्पति का भी है। स्वराशिस्थ बृहस्पति का जातक मण्डलेश्वर राजा का मन्त्री, सेनापति तथा धनवान् होता है। कुंभ राशि के बृहस्पति का जातक कर्कराशिस्थ सभी फलों को प्रदान करता है जबकि मकर राशि का बृहस्पति जातक को नीच कर्म करने वाला, अल्पधन वाला एवं सुख-हीन बनाता है।[१]

मङ्गल के गृह में स्थित शुक्र का जातक परस्त्रीगामी, पर-स्त्रियों के सम्बन्ध में व्यय करने से निर्धन एवं कुल में कलङ्क लगाने वाला होता है। अपने घर में स्थित शुक्र हो तो जातक अपने बल एवं बुद्धि से धन पैदा करने वाला राजाओं से पूजित-स्वजनों में श्रेष्ठ विख्यात एवं भय रहित होता है। बुध राशिस्थ, शुक्र का जातक राजकार्यकर्ता धनवान् कलाओं का ज्ञाता तथा नीच कर्मी होता है। शनि राशिस्थ शुक्र में जातक सर्वप्रिय स्त्री के वश में रहने वाला तथा दूषित स्त्रियों में आसक्त होता है। कर्कस्थ शुक्र का जातक दो स्त्रियों से युक्त याचक भय युक्त, अभिमानी, सदा शोक युक्त रहता है। सिंहस्थ शुक्र का जातक स्त्री के सम्बन्ध से धन कमाने वाला, उत्तम स्त्री से युत और थोड़ी सन्तान वाला होता है। गुरु राशिस्थ (धनु) शुक्र का जातक

१- बृहज्जातक १८। १२-१३

अपने उत्तम गुणों से पूजित एवं धनी होता है । मीन राशिस्थ शुक्र का जातक विद्वान्, धनवान्, राजाओं के द्वारा पूजित और सबों का प्रिय होता है ।[१]

कुज राशिस्थ शनि हो तो जातक भ्रमण करने वाला, दुखी मित्र रहित, कालवश बन्धन एवं वध से युक्त चञ्चल तथा निर्दयी होता है । बुध राशिस्थ शनि का जातक लज्जा, सुख, धन एवं सन्तान सबसे हीन चित्र बनाने की इच्छा वाला किन्तु उसमें मुर्ख रक्षक तथा प्रधान होता है । शुक्र राशिस्थ शनि में जातक अगम्य स्त्री में प्रीति करने वाला, थोड़े विभव वाला एवं बहुत विवाहिता स्त्रियों से युक्त होता है । जबकि तुलाराशि में प्रसिद्ध ग्रामवासियों से पूजित तथा धनवान् होता है । कर्कस्थ शनि का जातक निर्धन, थोड़े दातों से युक्त, माता एवं पुत्र से वियुक्त होता है । सिंहस्थ शनि का जातक मुर्ख सुख एवं पुत्र से हीन तथा दूसरे का भार ढोने वाला होता है । गुरु गृहस्थ शनि का जातक, सुखपूर्वक मृत्यु पाने वाला राजाओं के घर में विश्वासपात्र सुन्दर पुत्र, सुन्दरी स्त्री और सुन्दर धन वाला नगर, सेना, ग्राम इन तीनों का श्रेष्ठ नायक होता है । स्वक्षेत्रस्थ शनि का जातक परस्त्री से युक्त, दूसरे के धन से युक्त, नगर,सेना,ग्राम में अग्रगण्य, मन्द दृष्टि से युक्त, मलिन, स्थिर धन और विभव वाला तथा भोगी होता है ।[२]

१- बृहज्जातक १८ । १४-१५-१६

२- वही १८ । १७-१८-१६

मेषादि द्वादशराशियों में स्थित चन्द्रादि ग्रहों पर भौमादि ग्रहों का दृष्टिफल बताते हुये आचार्य कहते हैं कि मेषराशिस्थ चन्द्रमा पर मङ्गल की दृष्टि राजा, बुध की दृष्टि पण्डित, बृहस्पति की दृष्टि राजा के समान, शुक्र की दृष्टि गुणवान् शनि की दृष्टि चोर तथा सूर्य की दृष्टि निर्धन करती है । इसी प्रकार अन्य राशियों में स्थित चन्द्रमा पर भौमादि ग्रहों की दृष्टि का विधिवत् विवेचन किया है इसके पश्चात् होरा, और द्वादशांश में स्थित चन्द्रमा के ऊपर भौमादि ग्रहों के दृष्टि का फल बताया है । द्रेष्काण का फल बताते हुये आचार्य कहते हैं कि चन्द्रमा जिस द्रेष्काण में बैठा हो उसके स्वामी से जहां कहीं चन्द्रमा बैठा हुआ देखा जाता हो तो शुभ करने वाला होता है । इसी प्रकार मङ्गल के नवांश में स्थित चन्द्रमा के ऊपर सूर्य की दृष्टि हो तो नगर की रक्षा करने वाला मङ्गल की दृष्टि हो तो जीव घाती, बुध की दृष्टि हो तो मल्लयुद्ध में निपुण, बृहस्पति की दृष्टि हो तो राजा, शुक्र की दृष्टि हो तो धनवान् और शनि की दृष्टि हो तो झगडालु होता है । इसी प्रकार शुक्र के नवांश में स्थित बुध के नवांश में स्थित, स्वराशि नवांश में स्थित, सिंह नवांश में, गुरु राशि के नवांश में स्थित तथा शनि के नवांश में स्थित चन्द्रमा के ऊपर सूर्यादि ग्रहों के दृष्टि फल का विधिवत् विवेचन किया है ।[1]

१- बृहज्जातक १६ । ०

भाव फलों का विवेचन करते हुये आचार्य वराहमिहिर अपने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित फल बताते हुये लिखते हैं कि जिस जातक के जन्म काल में प्रथम भाव का सूर्य हो वह शूर स्तब्ध, नेत्ररोगी एवं निर्दयी होता है । यदि मेष का सूर्य है तो जातक नेत्र हीन होगा यदि सिंह का सूर्य है तो जातक रात्र्यन्ध होगा । यदि तुला का सूर्य है तो जातक अन्धा एवं निर्धन होगा, यदि कर्क का सूर्य हो तो बुद्-बुदाक्ष होता है । द्वितीय भाव के सूर्य में जातक बहुत धनी राजा के कोप से धन का नाश तथा मुख में रोग युक्त होता है । तृतीय स्थान का सूर्य जातक को बुद्धिमान एवं पराक्रमी बनाता है । चतुर्थ भाव का सूर्य जातक को सुख से हीन एवं पीड़ित चित्त वाला करता है । पञ्चम का सूर्य पुत्र एवं धन से हीन बनाता है । छठें का बलवान् एवं शत्रुजित् बनाता है । सातवें भाव का स्त्रियों से अनादृत आठवें भाव का थोड़ी सन्तान वाला थोड़ी दृष्टि वाला होता है नवम् भाव का सूर्य पुत्रवान् धनवान् एवं सुख भागी बनाता है । दशम् भाव का सूर्य सुख भोगने वाला एवं बलवान् करता है । लाभ भाव का सूर्य जातक को बहुत धनी बनाता है जबकि व्यय भाव का सूर्य जातक को पतित एवं भ्रष्ट बनाता है ।[1]

१- बृहज्जातक २० । १-२-३

आचार्य वैद्यनाथ का कथन है कि यदि प्रथम भाव में मेष राशि का सूर्य हो तो जातक सुन्दर नेत्र वाला होता है[१]।

आचार्य कल्याण वर्मा ने षष्ठ भावस्थ सूर्य का फल बताते हुये लिखा है कि जातक अधिक कामी प्रबल जठराग्नि वाला बली, धनवान्, प्रसिद्ध गुणी, राजा अथवा न्यायाधीश होता है[२]।

मन्त्रेश्वर महराज ने लिखा है कि यदि सूर्य नवम् भाव में हो तो जातक पिता से हीन अर्थात् कम उम्र में ही पिता का सुख नहीं रहता[३]।

आचार्य ढुण्ढिराज ने लिखा है कि नवम् भाव के सूर्य का जातक माता का अभक्त होता है[४]।

विभिन्न भावों में स्थित चन्द्रमा का फल बताते हुये आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि प्रथम भाव का चन्द्रमा जातक को मूर्ख अन्धा निन्दित कर्म करने वाला बधिर एवं नौका बनाता है जबकि प्रथम भाव में कर्क राशि हो तो जातक धनवान्, मेष हो तो पुत्रवान्, वृष हो तो धन युक्त होता है।

१- जातकपारिजात ८ । ५६

२- सारावली ३० । ७

३- फलदीपिका ८ । ४

४- जातकाभरणम् भावफलाध्याय ५।६

द्वितीय भाव के चन्द्रमा का जातक बहुत परिवार से युक्त, तृतीय में निर्दयी, चतुर्थ में सुखी, पञ्चम में पुत्रवान्, षष्ठ में बहुत शत्रुओं से युक्त कोमल शरीर, मन्दाग्नि, अल्पकामी उग्रस्वभाव एवं आलसी होता है। सप्तम भाव में ईर्ष्यालु एवं अतिशय कामी होता है। अष्टम भाव में चञ्चल बुद्धि से युक्त एवं व्याधि से पीड़ित होता है। नवम् में सौभाग्य, पुत्र, मित्र, बन्धु, धन,धर्म से युक्त, दशम भाव में सब कार्मों को सम्पादन करने वाला धर्मवान् धनवान् एवं पराक्रमवान् होता है एकादश भाव का चन्द्रमा प्रख्यात तथा लाभ कराने वाला होता है। द्वादश भाव का चन्द्रमा निन्दित स्वभाव वाला और किसी अङ्ग से रहित करता है।[१] यही कथन प्राकारान्तर से अन्य आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

लग्नादि द्वादश भावों में स्थित मङ्गल का फल बताते हुये आचार्य कहते हैं कि प्रथम भाव का मङ्गल क्षत-तनु, द्वितीय भाव में हो तो जातक कदन्न खाने वाला, नवम् भाव में हो तो पाप करने वाला होता है शेष स्थानों में स्थित मङ्गल का फल सूर्य के सदृश होता है।

जिस जातक के जन्मकाल में बुध लग्न में बैठा हो वह विद्वान्, द्वितीय में धनवान्, तृतीय में दुर्जन, चतुर्थ में पण्डित, पञ्चम में मन्त्री, षष्ठ

१- बृहज्जातक २० । ४-५

में शत्रु रहित सप्तम् में धर्म को जानने वाला, अष्टम में स्थित हो तो प्रख्यात गुणवाला होता है। अन्य भावों में स्थित बुध का फल सूर्य के समान ही होता है।[१]

लग्नादि द्वादश भाव में स्थित गुरु का फल बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि प्रथम भाव का बृहस्पति जातक को विद्वान्, द्वितीय का सुन्दर वाणी से युक्त, तृतीय का कृपण, चतुर्थ का सुखी, पञ्चम का बुद्धिमान, छठें का शत्रुरहित, सातवें का पिता से अधिक गुणवान्, अष्टम का नीच कर्म कर्ता, नवम् का तपस्वी, दशम् का धनवान्, एकादश का लाभ करने वाला तथा द्वादश का दुष्ट बनाता है।

जिसके जन्मकाल में लग्न में शुक्र बैठा हो वह कामक्रीड़ा में चतुर एवं सुखी होता है, यदि सप्तम भाव में शुक्र बैठा हो तो झगड़े का प्रेमी एवं सतत् काम क्रीडा का इच्छुक होता है। पञ्चम भाव में सुखी होता है इससे अतिरिक्त भाव में स्थित हो तो गुरु के सदृश फल करता है।[२]

लग्नादि द्वादश भाव स्थित शनि का फल बताते हुये लिखते हैं कि जिसके जन्म काल में शनि लग्न में बैठा हो वह निर्धन रोगी अतिशय कामी,

---

१- बृहज्जातक २० । ६

२- वही २० । ८

अतिशय मलिन बाल्यावस्था में पीड़ायुक्त एवं बोलने में आलसी होता है ।[१]

परवर्ती कतिपय आचार्यों का कथन है कि तुला धन एवं मीन का शनि यदि लग्न में स्थित हो तो जातक राजा के सदृश गांव एवं नगर का मालिक सुन्दर विद्वान् और सुन्दर शरीर युक्त होता है ।[२]

इसके अतिरिक्त अन्य भाव में शनि सूर्य के समान फल करता है ।

इसके अतिरिक्त आचार्य ने लग्नादि द्वादश भाव में स्थित सभी ग्रहों के विशेष परिस्थितिवश फलादेश किया है ।

आश्रय योग का वर्णन करते हुये आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि जिस जातक के जन्म काल में एक ग्रह अपने घर में बैठा हो तो वह अपने कुल के समान विभवादि पाता है । दो ग्रह स्वगृह में हो तो अपने कुल में मुख्य, तीन हो तो बन्धुओं से पूज्य, चार हों तो धनी, पांच हो तो सुखी, छ: हो तो भोगी, सात हो तो राजा होते हैं । यदि एक ग्रह मित्र क्षेत्र में हो तो दूसरे के धन से जीवन यात्रा चलाने वाला होता है । दो हो तो मित्रों से, तीन हो तो जाति वालों से चार हो तो भाइयों से, पांच हो तो लोगों का स्वामी छ: हो तो सेनापति, सात हो तो राजा होते हैं । इसी प्रकार एक भी ग्रह

१- बृहज्जातक २० ।६

२- तुला को दण्डमीनानां लग्नस्थोऽपि शनैश्चर:
करोति भूपतेर्जन्म वंशस्थ नृपतिर्भवेत् । (मानसागरी राजयोगाध्याय)

अपने उच्चघर में स्थित होकर अपने मित्र से देखा जाता हो तो राजा होता है।[१]

सत्याचार्य[२] का मत है कि यदि कुम्भ लग्न में जातक पैदा हो तो उसको शुभ नहीं होता तथा यवनाचार्य[३] का मत है कि यदि कुम्भ राशि के द्वादशांश में जातक पैदा हो तो उसको शुभ नहीं होता है। यहां पर विष्णुगुप्त का कथन है कि कौन ऐसी राशि है जिसमें कुम्भ राशि का द्वादशांश नहीं है अत: वराहमिहिर की मान्यता है कि सत्याचार्य का मत ही ठीक है अर्थात् कुम्भ लग्न ही अशुभ है कुम्भ राशि का द्वादशांश नहीं[४]।

इसके अतिरिक्त आचार्य ने होरा में स्थित ग्रहों का फल, होरा में स्थित ग्रहों का विपरीत, द्रेष्काण में स्थित, चन्द्र का फल नवांश का फल, मङ्गल एवं शनि का बृहस्पति एवं बुध का एवं शुक्र का त्रिशांश फल वर्णित किया है।

१- बृहज्जातक २१ । २

२- कुम्भविलग्ने जातो भवति नरो दु:खशोक सन्तप्त: ।

३- सर्वे स्वलग्नगते कुम्भद्विरसांसको यदाभवति ।
राशौ न तदा सुखित: परान्नभोजी भवेत्पुरुष: ।।
- यवन जातक

४- बृहज्जातक २१ ।३

ग्रहों की परस्पर कारक संज्ञा बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि जो ग्रह अपने गृह उच्च या मुल त्रिकोण में स्थित होकर केन्द्र में स्थित हो और दुसरा कोई ग्रह ऐसा ही हो तो वे दोनों ग्रह परस्पर कारक संज्ञक होते हैं । इन्हीं गुणों से युक्त जो ग्रह दशम स्थान में स्थित होता है वह विशेष-कर कारक संज्ञक होता है ।[१]

बृहत्पाराशर होराशास्त्र में इसी प्रकार ग्रहों की परस्पर कारक संज्ञा बतायी गयी है ।[२]

आचार्य कल्याण वर्मा ने भी लिखा है कि जन्मकाल में यदि ग्रह अपनी राशि अथवा मुल त्रिकोण राशि या अपनी उच्च राशि में स्थित होकर केन्द्र में स्थित हों तो वे परस्पर कारक संज्ञक होते हैं ।[३]

कारक संज्ञा का प्रयोजन बताते हुये आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि जिस जातक का जन्म वर्गोत्तम नवांश में हो तो उसका जन्म शुभ होता है। युवावस्था में सुख का योग बताते हुये वे कहते हैं कि जिस जातक के जन्म काल में बृहस्पति, जन्म राशि पति, लग्न का स्वामी ये तीनों केन्द्र में बैठे हों तो

१- बृहज्जातक २२ ।१

२- बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् ३२ । ३६

३- सारावली ६ ।१

उस मनुष्य का युवावस्था सुखप्रद होता है ।[१]

यवनाचार्य[२] एवं गर्ग[३] ने भी वराहमिहिर के इसी मत से सम्बन्धित अपना मत प्रतिपादित किया है ।

पुन: गोचरवश ग्रहों के फल प्रदान करने का निरूपण करते हुये आचार्य कहते हैं कि सूर्य एवं मङ्गल राशि के प्रथम भाग में बृहस्पति एवं शुक्र राशि के मध्य भाग में शनि एवं चन्द्रमा राशि के अन्त भाग में तथा बुध सर्वदा उस राशि सम्बन्धी शुभ या अशुभ फल प्रदान करता है ।[४]

जातक के अनिष्टादि योगों का विवेचन करते हुये आचार्य वराहमिहिर सर्वप्रथम स्त्री एवं पुत्र-हानि के योगों का प्रतिपादन करते हैं । यथा - यदि सूर्य लग्न में स्थित होकर कन्याराशि में बैठा हो और मीनराशि में शनि स्थित हो तो दारहा योग बनता है । इसी प्रकार लग्न में स्थित होकर सूर्य कन्या राशि में हो एवं मङ्गल मकर राशि में बैठा हो तो पुत्रहा

१- बृहज्जातक २२ ।५

२- जन्माधिपो लग्नपतिश्च येषां चतुष्टये स्यात् बलवान् गुरुर्वा ।
चतुर्भि होरादिभु संगत: स्यात् चतुर्थ्य: कालफलप्रद: स्यात् ।।
- यवन जातक

३- आद्यन्तमध्यफलद: शिर: पृष्ठोभयोदये ।
दशाप्रवेश समये तिष्ठन् वाच्यो दशापति: ।। - गर्गसंहिता

४- बृहज्जातक २२ ।६

योग होता है ।[१] इसी प्रकार आचार्य अन्य स्त्री मरण के तीन योगों को, स्त्री पुरुषों के काण योग एवं अङ्गहीन योगों को अपुत्र कलत्र, वन्ध्यापति योगों का वर्णन किया है । परस्त्री गमन आदि योगों को बताते हुये लिखते हैं कि जिस जातक के जन्म काल में शुक्र सप्तम भाव में स्थित होकर शनैश्चर या मङ्गल के वर्ग में स्थित हो, शनैश्चर या मङ्गल से दृष्ट हो तो वह जातक परस्त्रियों में गमन करने वाला होता है इसी प्रकार आचार्य ने अन्य अनिष्टादि योग यथा वंशच्छेद आदि योग वातरोग श्वास क्षयादि रोग, कुष्ठी योग, नेत्रहीन योग बधिरादि योग, पिशाच एवं अन्ध योग वात एवं उन्माद योग, दास योग, विकृतदशन खल्वाट् योग अनेक प्रकार के बन्धन योग, तथा पुरुष वचनादि योगों का विधिवत् विवेचन किया है । अपस्मार योग का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि जिस जातक के जन्मकाल चन्द्रमा शनैश्चर से युक्त हो उस पर मङ्गल की दृष्टि हो तथा परिवेष युक्त हो तो क्रम से कठोर वचन बोलने वाला, अपस्मार योग तथा क्षय रोग युक्त होता है ।[२]

आचार्य वैद्यनाथ ने भी रोग-योगों का वर्णन करते हुये, कर्ण रोग योग, पित्त रोग, अपान योग, उन्माद योग, अन्ध योग, कुष्ठ

१- बृहज्जातक २३ । १

२- वही २३ । १७

योग, उन्माद योग, श्वास क्षयादि रोगों का विवेचन वराहमिहिर की ही भांति किया है।[1]

फलदीपिकाकार ने पृथक्-पृथक् ग्रहों के वश होने वाले पृथक्-पृथक् रोगों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।[2]

आचार्य ढुण्ढिराज ने जातक के हीनादि रोग श्वासादि योग नेत्र रोग तथा कर्णनाशक रोगों का उल्लेख किया है।[3] लग्नचन्द्रिका में विभिन्न प्रकार होने वाले रोगों का सूक्ष्म वर्णन मिलता है।[4]

स्त्री जातक की चर्चा करते हुये आचार्य वराहमिहिर सर्वप्रथम स्त्रियों के आकार एवं स्वभाव के विषय में वर्णन किया है। जिस स्त्री के जन्म काल में लग्न एवं चन्द्रमा समराशियों में से किसी राशियों में बैठे हों तो वह स्त्री के स्वभाव और आकार वाली तथा लग्न एवं चन्द्रमा दोनों विषम राशियों में से किसी भी राशि में स्थित हो तो वह स्त्री पुरुष के आकार

१- जातकपारिजातम् ६। रोगयोग

२- फलदीपिका १४। ०

३- जातकाभरणम्, पृष्ठ ६४

४- जन्म स्थाने यदाराहु: षष्ठ स्थाने च चन्द्रमा: ।
अपस्मारी तदा बालो जायते नात्र संशय: ।।
- लग्नचन्द्रिका, पृ० ६८

एवं स्वभाव वाली होती है ।[१]

इसके पश्चात् आचार्य ने भौमादि गत लग्न और चन्द्रमा का त्रिंशांश फल, शुक्र राशि गत और चन्द्रमा का त्रिंशांश फल कर्क में स्थित लग्न और चन्द्रमा का त्रिंशांश फल, पति का पुरुषादि योग, वैधव्य आदि योग, अपने माता के साथ व्यभिचारिणी योग, वृद्धादि स्वामी का योग तथा प्रव्रज्या आदि योगों का विधिवत् विवेचन किया है ।

वैधव्य योग का वर्णन करते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिस स्त्री के जन्म काल में लग्न से या चन्द्रमा से सप्तम स्थान में पाप ग्रह स्थित हो वह स्त्री विधवा होती है । यदि लग्न या चन्द्रमा से सप्तम स्थान में शुक्र मङ्गल चन्द्रमा से युक्त बैठा हो तो वह स्त्री अपने स्वामी की आज्ञा ही से परपुरुष गामिनी होती है ।[२]

लग्न में स्थित ग्रहों का फल बताते हुये कहते हैं कि जिस स्त्री के जन्मकालिक लग्न में चन्द्रमा, शुक्र दोनों बैठे हों तो वह स्त्री ईर्ष्यायुक्त एवं सर्वदा सुखयुक्त होती है । बुध एवं चन्द्रमा स्थित हो तो वह कलाओं में चतुर सुख करने वाली और गुणों से युत होती है । शुक्र, बुध दोनों स्थित हों तो

१- बृहज्जातक २४ । २

२- वही २४ । ६

सबकी प्यारी सुन्दरी और कलाओं को जानने वाली होती है । इसी तरह बुध बृहस्पति शुक्र ये तीनों शुभग्रह लग्न में बैठे हुये हों तो वह स्त्री अनेक प्रकार के धनों से सुख करने वाली और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त होती है ।[१]

१- बृहज्जातक २४ । १३

निर्याण सम्बन्धी विषयों का विवेचन करते समय आचार्य सर्वप्रथम अष्टम स्थान में स्थित ग्रह अथवा अष्टम स्थान पर बली ग्रह की दृष्टि वश जातक के मरण की बात कही है । वे लिखते हैं कि यदि अष्टम स्थान में अधिक ग्रह हो तो बहुत रोग मिश्रण होकर उसके कोप से जातक का नाश होता है । यदि अष्टम स्थान में सूर्य हो तो अग्नि से चन्द्रमा हो तो जल से मङ्गल हो तो शस्त्र से बुध हो तो ज्वर से बृहस्पति हो तो अज्ञात रोग से शुक्र हो तो प्यास से और शनि हो तो भूख से मृत्यु होती है । मरण प्रदेश को बताते हुये कहते हैं कि अष्टम स्थान में चर राशि हो तो परदेश में, स्थिर राशि हो तो स्वदेश में, द्विस्वभाव राशि हो तो रास्ते में मरण होता है ।[१]

इसके अतिरिक्त आचार्य ने अन्य मरण योगों को बताया है, यथा जिस जातक के जन्म कालिक लग्न से चतुर्थ में मङ्गल सप्तम में सूर्य और दशम में शनैश्चर स्थित हो उस जातक का शस्त्र अग्नि या राजा के कोप से मरण होता है । तथा शनैश्चर द्वितीय में चन्द्रमा चतुर्थ में और मङ्गल दशम में स्थित हो तो उस जातक के शरीर में कीड़े पड़ने से मरण होता है ।[२]

१- बृहज्जातक २५ । १

२- वही २५ । ७

पुर्वोक्त योगों के अभाव में मरण योग बताते हुये लिखते हैं कि जिस जातक के जन्म काल में पुर्व कथित योगों में कोई भी योग न हो तो जन्म काल में जो द्रेष्काण हो, उससे २२ वां द्रेष्काण मृत्यु का कारण होता है।[१]

आचार्य वैद्यनाथ ने भी वराहमिहिर के इसी मत का अनुकरण किया है।[२]

मन्त्रेश्वर महाराज ने शनि के वश, अष्टम् स्थानवश तथा द्रेष्काण वश अनेक प्रकार से निर्याण योगों का वर्णन किया है।[३]

पुर्वोक्त मरण योगों के अतिरिक्त आचार्य ने बताया कि जातक किस प्रकार की भुमि में मरेगा तथा मृतक के देह के परिणाम का ज्ञान, पुर्व जन्म, परिज्ञान तथा भविष्य में गम्य लोक का ज्ञान, वर्णित किया है।

मोक्ष योग को बताते हुये आचार्य लिखते हैं कि जिसके जन्म काल में अपने उच्च में स्थित होकर बृहस्पति षष्ठ केन्द्र या अष्टम में बैठा हो वह जातक मुक्त हो जाता है।[४]

१- बृहज्जातक २५। ११

२- जातक पारिजात ५। ७२

३- फलदीपिका - अध्याय १७ निर्याण प्रकरण

४- बृहज्जातक २५। १५

जिस जातक को अपने जन्म का समय किसी कारणवश ज्ञात नहीं है उसके जन्म काल का ज्ञान प्रश्नकालिक लग्न से तथा तात्कालिक स्पष्ट सूर्य बनाकर के जातक के वर्ष ऋतु मास, तिथि, दिन, रात्रि, इष्ट काल आदि का विवेचन आचार्य ने नष्टजातकाध्याय में किया है ।

प्रकारान्तर से जन्मराशि के ज्ञान का वर्णन करते हुये आचार्य लिखते हैं कि प्रश्नकालिक लग्न से जितने संख्यक स्थान में चन्द्रमा स्थित हो चन्द्रमा से उतने संख्यक स्थान में जो राशि हो उसी राशि में जन्म कहना चाहिये । यदि प्रश्न लग्न मीन हो तो मीन राशि में ही जन्म कहना चाहिये। इन अनेक प्रकारों से जन्मराशि एक ही आवे तो निर्विवाद उसी राशि में जन्म चाहिये । अगर भिन्न-भिन्न राशि आवें तो वहां प्रश्न काल में आयी हुई खाने के चीज के स्वरूप से या पशु-पक्षी आदि के दर्शन या उनके शब्द श्रवण से, मेष बैल, मेढ आदि से वृष आदि जन्म राशि कहना चाहिये ।[१]

प्रकारान्तर से नष्ट जातक के ज्ञान को बताते हुये कहते हैं कि प्रश्न लग्न का कला पिण्ड बनाकर उसके गुणांक से गुणा करें अगर लग्न में कोई ग्रह हो उसके गुणांक से भी पूर्व गुणन फल को गुणा करे राशि का गुणांक क्रम इस प्रकार है, वृष एवं सिंह का १०, मिथुन एवं वृश्चिक का

१- बृहज्जातक २६ । ६

८, मेष एवं तुला का ७ कन्या एवं मकर का ५, तथा शेष राशियों का राशि संख्या तुल्य गुणक होता है । ग्रह का गुणकांक क्रम, सूर्य का ५, चन्द्रमा का ५, मङ्गल का ८, बुध का ५, बृहस्पति का १०, शुक्र का ७, तथा शनैश्चर का भी ५ है ।[१]

इन पूर्वानीत कलापिण्डों के माध्यम से नक्षत्र का ज्ञान, वर्षादि का ज्ञान, दिन रात्रि का ज्ञान तथा इष्ट कालादि का ज्ञान होता है ।

आचार्य कल्याण वर्मा ने भी जातक के स्वभावादि के अनुसार नष्ट जातकादि लग्न निर्णय का विवेचन किया है ।[२]

आचार्य वराहमिहिर के पश्चात् आचार्य ढुण्ढि राज ने नष्ट जातकाध्याय का अतिसूक्ष्म विवेचन किया है ।[३]

मेषादि द्वादशराशियों के ३६ द्रेष्काणों के स्वरूपों का पृथक-पृथक विवेचन किया है । मेष राशि के प्रथम द्रेष्काण का वर्णन करते हुये आचार्य कहते हैं कि कमर में सफेद वस्त्र लपेटा हुआ काला वर्ण रक्षण करने में समर्थ, भयानक स्वरूप फरसा को धारण किया हुआ, लाल नेत्र वाला

१- बृहज्जातक २६ । ६

२- सारावली ४७ । नष्ट जातकाध्याय

३- जातकाभरणम ,, ,,

एवं पुरुष संज्ञक है ।[१]

इसी प्रकार आचार्य ने विभिन्न द्रेष्काणों का विभिन्न स्वरूप बताया है । अन्त में आचार्य वराहमिहिर ने ग्रन्थ में वर्णित अध्यायों का संग्रह तथा ग्रन्थ में हुई असावधानी आदि का सज्जनों से क्षमा प्रार्थना करते हुये ग्रन्थ के अन्त में अपना संक्षिप्त परिचय देते हुये आचार्य एवं सूर्यादि को प्रणाम करते हुये ग्रन्थ का समाप्त किया है ।

-०-

१- बृहज्जातक २७ । १

षष्ठ अध्याय

-०-

उपसंहार

षष्ठ अध्याय
-०-

उपसंहार

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान में आचार्य वराहमिहिर का अपना एक विशिष्ठ योगदान है । जैसा कि इन्होंने स्वयं ही उल्लेख किया है ये महान गणितज्ञ आर्यभट के पश्चात् उत्पन्न हुए अथवा अस्तित्व में आये । इन्होंने आर्यभट के उस सिद्धान्त की चर्चा की है जिसमें आर्यभट ने लङ्का में आधीरात के समय से वार की प्रवृत्ति बतलायी है । अत: इनका समय निश्चित ही छठीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा है जैसा कि प्रथम अध्याय में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है ।[१] वराहमिहिर से परवर्ती प्राय: सभी ज्योतिषियों ने वराह तथा आर्यभट दोनों की चर्चा की है । आचार्य ब्रह्मगुप्त, कल्याणवर्मा, पृथुयश, द्वितीय आर्यभट, भटोत्पल, गणेश दैवज्ञ, कालिदास, ढुण्ढिराज, भास्कराचार्य तथा कमलाकरभट आदि ने आचार्य वराहमिहिर का नाम बड़े आदर के साथ लिया है । वस्तुत: यदि यह कहा जाय कि वराहमिहिर से परवर्ती प्राय: सभी ज्योतिषीय ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता एवं बृहज्जातक के उपजीव्य हैं, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

ग्यारहवीं शताब्दी में आये हुए मुस्लिम यात्री अलबेरूनी ने जितना आर्यभट का उल्लेख किया है, उससे कहीं अधिक वराहमिहिर का

१- देखें अध्याय प्रथम

किया है । लेकिन ये दोनों उल्लेख अलग-अलग विषयों के लिए हैं । आर्य भट का उल्लेख सिद्धान्त ज्योतिष के लिए किया है जबकि वराहमिहिर का उल्लेख फलित ज्योतिष के लिए किया है । आर्यभट के सम्बन्ध में कहीं भी वह विपरीत बात नहीं करता, किन्तु वराहमिहिर की फलितज्योतिष सम्बन्धी विषयों में वह कहीं-कहीं सन्देह करता है ।[१] परन्तु उसका यह सन्देह उसकी ज्योतिष सम्बन्धी अनभिज्ञता का परिचायक है, क्योंकि अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ भारतवर्ष में एक स्थल पर वह लिखता है कि वराह के कथन सत्य पर आश्रित हैं परमेश्वर करें कि सभी बड़े लोग उसके आदर्श का पालन करें । अलबेरूनी का यह कथन उसकी वराहमिहिर के प्रति उत्कृष्ट आस्था का संकेत करता है ।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत बातें हमारे सामने आती हैं, जिन पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए । गणित ज्योतिष, ज्योतिषशास्त्र का मूलभूत आधार है । बिना गणित के फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में तथा किसी अन्य तत्वों के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है । जैसा कि भारतीय ज्ञान विज्ञान की परम्परा रही है । मध्यकालीन इतिहास ६०० ई० के पूर्व शास्त्र और ज्योतिष आदि ज्ञानों का नवीनीकरण और नूतन स्थापनाएँ होती रही हैं । जैसे जब कौटिलीयअर्थशास्त्र लिखा गया तो बृहस्पति का बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र लुप्त हो गया । आरोग्य-शास्त्र के विषय में भी यह बात प्रचलित है कि आत्रेय के आरोग्यशास्त्र लिखने के पश्चात् उनके पूर्व के आरोग्यशास्त्र लुप्त होते गये । इसी प्रकार अन्य शास्त्रों

१- अलबेरूनी का भारत, द्वितीय भाग, पृ० ३६०, ६१

के बारे में इतिहास की यही स्थिति है ।

भारतीय ज्योतिषशास्त्र की मुख्य ३ शाखाएं हैं । सिद्धान्त, संहिता एवं फलित । सिद्धान्त ज्योतिष सार्वभौम है । फलित ज्योतिष उतना सार्वभौम नहीं है । फलित ज्योतिष में स्थान, काल तथा पात्र भेद से फलभेद हो जाता है । संहिता ज्योतिष तो अब मात्र मुहूर्त तक ही सीमित रह गयी है । उपनिषद्काल से गणित ज्योतिष की सैद्धान्तिक बातें विवेचन में आती रही हैं । आर्यभट ने अपने आर्यभटीयम् में अपने से पूर्व के गणित के सिद्धान्तों को लेकर अपनी नवीन खोजों और सिद्धान्तों से प्राचीन गणित ज्योतिष को मण्डित कर उसको एक ऐसा रूप प्रदान किया कि उसके आगे कुछ कहा जाना किसी अन्य ज्योतिषी के लिए सम्भव नहीं हुआ, और आज भी वह अपने विषय का अनुपम ग्रन्थ है । किन्तु आर्यभट ने फलित ज्योतिष के क्षेत्र को स्पष्ट नहीं किया । क्योंकि फलित ज्योतिष का विस्तार वेद से लेकर लोक तक था । फलित ज्योतिष के उन बिखरे सिद्धान्तों को सञ्चयन कर नवीन रूप देने के लिए किसी महान् ज्योतिषी की आवश्यकता आर्यभट के पश्चात् अनुभव की जा रही थी ।

उस आवश्यकता की पूर्ति आचार्य वराहमिहिर ने किया । वराह मिहिर ने ज्योतिषशास्त्ररूपी महासमुद्र का मथन कर उससे तत्वरूप नवनीत निकालकर ज्योतिष के अध्येताओं का मार्गदर्शन किया । आचार्य वराहमिहिर ने सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्र को आद्यन्त देखा था । उन्होंने तीन मुख्य कार्य किये । प्रथम सराहनीय उनका यह कार्य रहा कि पहले से आते हुए सिद्धान्त एवं करणग्रन्थ के मुख्य पांच धाराओं रोमक, पौलिश,

वशिष्ठ, सौर एवं पैतामह का एकत्र संकलन पञ्चसिद्धान्तिका नाम से कर दिया । उनका यह कार्य ज्योतिष इतिहास की दृष्टि से बड़ा ही महत्व पूर्ण है । उन्होंने एक प्रकार से ज्योतिषशास्त्र के जीवन की रक्षा किया । पञ्चसिद्धान्तिका में आचार्य वराहमिहिर ने अपने प्राचीन पांचों सिद्धान्तों को एकत्र संकलित किया । पञ्चसिद्धान्तिका का आद्यन्त अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रैलोक्य संस्थान नामक तेरहवां अध्याय वराहमिहिर की स्वतन्त्र रचना है । इसका संकेत गणित ज्योतिष में आचार्य वराहमिहिर का योगदान नामक तीसरे अध्याय में किया जा चुका है ।[१]

पञ्चसिद्धान्तिका के इस तेरहवें त्रैलोक्य संस्थान नामक अध्याय में आचार्य वराहमिहिर ने पृथवी को आकाशीय ग्रह पिण्डों के आकर्षण शक्ति से निराधार अन्तरिक्ष में बेलाग टिकी होने का स्वयं का मत प्रकट किया है । आचार्य वराहमिहिर से पूर्व पाराशर, गर्ग, कश्यप तथा अन्य आचार्यों तथा पुराणों की मान्यताएं थी कि पृथवी शेषनाग के फण, दिग्गजों के ऊपर, लोकपालों पर अथवा किसी किली पर टिकी हुई है । आचार्य वराहमिहिर ही सबसे प्रथम ज्योतिर्वैज्ञानिक हैं जिन्होंने उपर्युक्त सिद्धान्त की स्थापना करके पूर्वोक्त मतों का विधिवत खण्डन किया है । वे लिखते हैं कि पंचभूत से बनी पृथवी का गोल तारों के पञ्जर (ठठरी)

१- देखें इसी शोधप्रबन्ध का तीसरा अध्याय ।

में उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार चुम्बकों के बीच लोहा ।[१]

वराहमिहिर ने पृथवी में आकर्षण शक्ति होने का स्पष्ट संकेत भी किया है । लिखा है कि जैसे मनुष्यों के देश में अग्निशिखा वायु में ऊपर उठती है, और फेंके जाने पर भारी वस्तु पृथवी पर गिरती है उसी प्रकार उल्टी और असुरों के देश में भी होता है ।[२] जैनियों के मतानुसार दो सूर्य एवं दो चन्द्र होते हैं । इसका विधिवत् एवं तर्कपूर्ण खण्डन आचार्य ने किया है । चन्द्रमा में कलाएं क्यों दिखायी पड़ती हैं इसका सही कारण वराहमिहिर को ज्ञात था । वे कहते हैं कि जैसे-जैसे प्रतिदिन चन्द्रमा का स्थान सूर्य के सापेक्ष बदलता है वैसे-वैसे उसका प्रकाशमय भाग बढ़ता जाता है, ठीक उसी तरह जैसे अपराह्ण में घड़े का पश्चिम भाग अधिकाधिक प्रकाशित होता जाता है ।[३] आचार्य ने समय नापने के लिए जलघटी का उपयोग भी बताया है । यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि यदि पञ्चसिद्धान्तिका न होती तो ज्योतिष इतिहास का हमारा ज्ञान अधूरा ही रह जाता ।

१- पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोल: ।
खेऽयस्कान्तान्त: स्थोऽलोह इवावस्थितो वृत्त: ।।
(पञ्चसिद्धान्तिका १३ ।१)

२- पञ्चसिद्धान्तिका १३ । ४

३- वही १३ । ३७

आचार्य वराहमिहिर का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य संहिता ज्योतिष के सम्बन्ध में बिखरे समस्त सिद्धान्तों का सञ्चयन करना था। यह बहुत ही श्रम एवं विवेक का कार्य था। निश्चित रूप से इनके अपने - अपने विषय के भिन्न-भिन्न आकर ग्रन्थ रहे होंगे। जिनको इन्होंने बृहत्संहिता के रूप में संकलित कर दिया। बृहत्संहिता में आचार्य ने विभिन्न राष्ट्रों पर होने वाले ग्रहों के प्रभावों तथा वृष्टि,अनावृष्टि, अतिवृष्टि, भूकम्प, भूमिस्थ जलज्ञान, वास्तुविज्ञान, शकुन, मुहूर्त,पशुलक्षण, रत्नपरीक्षण, शिल्पकला, चित्रकला, अस्त्र, शस्त्र, भवन निर्माण,वज्रलेप, वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद, ग्रह गोचर का मानवजीवन पर प्रभाव तथा मनुष्य के ज्ञान के उत्कर्ष के सभी पक्षों पर यथासम्भव प्रकाश डाला है। वराहमिहिर का यह कार्य अथवा बृहत्संहिता का यह संकलन तीसरी शती ईसवी पूर्व के यूनान के वैज्ञानिक एवं विद्वान् अरस्तू (अरिस्टाटिल) के ज्ञान विज्ञान-सम्बन्धी महान श्रम एवं संकलन की समता करता है। इन सबका संकलन भी वराहमिहिर ने देश के नाना क्षेत्रों से किया होगा। इनमें से कई एक की चर्चा कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी है। इस संकलन से भारतीय ज्ञान विज्ञान की सुरक्षा हुई है। और इसमें सन्देह नहीं है कि उनके इस संकलन के ज्ञान का लाभ उठाकर मध्यकाल में प्रयोगात्मक प्रयोग किये गये हैं। आज भी सहारनपुर में वराहमिहिर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रयोग किया जा रहा है तथा वहां अभी सन् १९८४ ई० में अनेक परीक्षणों के द्वारा यह पाया गया कि बृहत्संहिता में वर्णित उदकार्गलाध्याय का भूमि में स्थित जलज्ञान शतप्रतिशत सत्य है। इन

इन सभी दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आचार्य कृत बृहत्संहिता एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है ।

आचार्य वराहमिहिर का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य है जातक-स्कन्ध को सुव्यवस्थित रूप देना । इस क्षेत्र में उन्होंने सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बृहज्जातक की रचना की है । यह फलित ज्योतिष के क्षेत्र में आचार्य की सबसे बड़ी देन है । यह बृहज्जातक, जातकस्कन्ध का सबसे प्राचीन पौरुषेय ग्रन्थ है । इसमें मनुष्य के जीवन से सम्बन्धित गृहों की दशाएं उनके फल, गृहों के योग, राजयोगादि का कथन, मानव जीवन पर गृहों का प्रभाव, अरिष्ट, आयुष्य, कर्माजीव, चन्द्रयोग, प्रव्रज्या योग, गृहयुति एवं गृहभावों का फल आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक विवेचन किया है । यह ग्रन्थ न ही बहुत विस्तृत है और न ही संक्षिप्त । किन्तु इसमें जातक सम्बन्धी सभी विषयों का विधिवत विवेचन है । इतना तो स्पष्ट है कि आचार्य ने पूर्ववर्ती गर्गादि ऋषियों के मतों को बृहज्जातक में सन्निवेशित किया है, किन्तु अधिकांश नवीन सिद्धान्तों की स्थापना आचार्य ने स्वयं ही किया है ।

यहां पर बृहज्जातक के आविष्कृत कतिपय सिद्धान्त की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा, जो कि निश्चित है कि ये कल्पनाएं आचार्य वराहमिहिर की अपनी हैं । इनमें प्रमुख हैं, प्रव्रज्या योग, दशा-प्रकरण, आयु का सम्यक् निर्णय एवं नष्ट जातक की कुण्डली का निर्माण । प्रव्रज्या योग की चर्चा करते हुए आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है कि जिस

जातक की कुण्डली में एक स्थान में स्थित चार या पांच गृह हों तो प्रव्रज्या योग होता है। आगे पुन: उन्होंने कहा है कि गृहों के बलवान होने की दृष्टि से ये भेद हो सकते हैं। उन सभी गृहों में यदि मंगल बलवान हो तो लालवस्त्र धारण करने वाला,बुध बलवान हो तो दण्ड धारण करने वाला, बृहस्पति बलवान होने पर भिक्षुक, चन्द्रमा बलवान हो तो वृद्धकापालिक, शुक्र बलवान हो तो चक्रधारी, शनि बलवान हो तो नग्न तथा सूर्य बलवान हो तो कन्द मूल फल खाने वाला होता है। इस प्रव्रज्यायोग में उन्होंने और अनेक प्रकार के योग कल्पित किये हैं।[१] सम्भवत: प्रव्रज्या योग की यह कल्पना वराहमिहिर ने बौद्ध विहारों के मठाधीशों को देखकर की है। इसके पूर्व यह माना जाता रहा है कि एक स्थान में चार गृह बैठ जांय तो जातक राजा होता है।[२] परन्तु बौद्ध विहारों का उदय होने पर ऐसे जातकों में राजयोग का लक्षण बौद्ध विहारों का मठाधीश होने में प्रकट हुआ। यह भी राजयोग था किन्तु वराहमिहिर ने इसे प्रव्रज्या योग कह दिया। यह उनकी अपनी नयी कल्पना है।

इसके अतिरिक्त दशाप्रकरण में भी आचार्य ने राहु केतु को मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों में सम्मिलित न करने के कारण एक

१- बृहज्जातक-अध्याय १५, श्लोक १, २, ३

२- चतुर्ग्रहैरेकगतैश्च संस्थैर्विपन्नदुश्चिक्यतनुस्थितैर्वा।
दासीकुजात: क्षितिपालतुल्यो भवेन्नरो भूपतिरत्नकोशी ॥

नयी विधि बतायी है । आचार्य से पूर्ववर्ती पाराशर ने विंशोत्तरी, अष्टोत्तरी तथा अन्य दशाओं का वर्णन किया है किन्तु आचार्य वराहमिहिर ने इसे स्वीकार न करते हुए अन्य प्रकार से ग्रहों की दशाओं का वर्णन किया है । इसका विवेचन पंचम अध्याय में किया जा चुका है ।[1] दशा के अतिरिक्त आचार्य ने नष्टजातक के कुण्डली का निर्माण प्रश्न लग्न को इष्ट मानकर बनाने का प्रकार तथा आयु सम्बन्धी अपना नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया है ।

इस प्रकार आचार्य वराहमिहिर भारतीय ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में एक बहुविज्ञ तथा बहुश्रुत आचार्य के रूप में हमारे सामने आते हैं । आचार्य के मौलिक सिद्धान्त विद्वतापूर्ण एवं अतिगम्भीर हैं । प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधिपर्यन्त एकमात्र आचार्य वाराहमिहिर ही त्रिस्कन्ध ज्योतिषी हैं । त्रिस्कन्ध ज्योतिष को संकलन करने में उनकी प्रतिभा की बारीकी तथा उनके अगाध श्रम को सराहना पड़ता है । वराहमिहिर से परवर्ती आचार्यों ने बृहत्संहिता एवं बृहज्जातक को आधार बनाकर अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया है । अतः भारतीय ज्योतिष एवं ज्ञान-विज्ञान का विशाल क्षेत्र कहीं न कहीं आचार्य वराहमिहिर का अवश्यमेव ऋणी है । यह हमें अवश्य ही स्वीकार करना पड़ता है ।

-0-

१- देखें इसी शोधप्रबन्ध का पंचम अध्याय ।

ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ सूची

अलबेरूनी का भारत - अनुवादक सन्तराम इण्डियन प्रेस प्रयाग द्वितीयसंस्करण १९२४ ई०

अमरकोश - अमरसिंह, पटना १९७२ ई०

अद्भुतसागर - बल्लालसेन, काशी संवत् १९६२

अर्वाचीन ज्योतिर्विज्ञानम् - श्रीरमानाथ सहाय, वाराणसी, शक १८८६

अभिलेखमाला - पं० रमाकान्त झा एवं हरिहर झा, वाराणसी १९८३ ई०

अर्घमार्तण्ड - पं० मुकुन्दवल्लभ मिश्र, वाराणसी १९४६ ई०

आर्यभटीयम् - आर्यभट, मुजफ्फरपुर १९०६ ई०

आचार्य भास्कर - सम्पादक आचार्य पं० रामजन्म मिश्र, वाराणसी १९७९ ई०

उत्तरकालामृतम् - कालिदास, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण

उपपत्तीन्दुशेखर - श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, जयपुर १९३६ ई०

एस्ट्रोलाजिकल मैगजीन वायलूम ३४ नं० १ - डा० बी० वी० रमन बंगलौर, जनवरी १९४५ ई० ।

करणप्रकाश - ब्रह्मदेव, चौखम्भा वाराणसी १९८६ ई०

करणकुतूहलम् - भास्कराचार्य, बम्बई

करण कौस्तुभ - कृष्णदेवज्ञ, काशी १६२७ ई०

कण्ठाभरण - वररुचि

कादम्बिनी - पं० मधुसूदनजी शर्मा ओझा जयपुर संवत् १६६६

काव्यमीमांसा - राजशेखर, चौखम्भा, वाराणसी, सं० १६६१

केतकी ग्रहगणितम् - श्री वेंकटेश, पूना १६३० ई०

खण्डखाद्य - आचार्य ब्रह्मगुप्त

गर्ग होरा - गर्गाचार्य, दिल्ली १६८३ ई०

गर्गसंहिता - गर्गाचार्य पाण्डुलिपि २३८६१ सरगङ्गानाथ झा केन्द्रिय विद्यापीठम्, इलाहाबाद ।

गणकतरङ्गिणी - सुधाकर द्विवेदी, बनारस १६३३ ई०

ग्रहलाघव - गणेशदैवज्ञ दिल्ली, वाराणसी, पटना १६७५ ई०

गणित कौमुदी - नारायण पंडित, बनारस १६३६ ई०

गुप्तसम्राट और उनका काल - उदयनारायणराय, इलाहाबाद १६७६ ई०

ग्रहगणित मीमांसा - मुरारीलाल शर्मा, वाराणसी १६६५ ई०

जातकपारिजात - वैद्यनाथ, वाराणसी १६८४ ई०

जातकार्णव पाण्डुलिपि ११६२४ सरगङ्गानाथ झा विद्यापीठ, प्रयाग

जातकदीपिका - पं० बालमुकुन्द त्रिपाठी, जबलपुर

जातकाभरणम् - ढुण्ढिराज, वाराणसी १९७७ ई०

जातकक्रोड - श्रीकृष्णादत्त, वाराणसी १८९४ ई०

जातकपद्धति - श्री केशवदैवज्ञ - वाराणसी

ज्योतिष सिद्धान्त संग्रह - बनारस १९१७ ई०

ज्योतिर्विदाभरणम् - कालिदास, बम्बई १९०८ ई०

ज्योतिर्विज्ञानम् - अर्कसोमयाजीश्रीधुलिपाल वाराणसी १९६४ ई०

ज्योतिष जातक संग्रह - पं० मुन्नुलाल, वाराणसी १८८८ ई०

ज्योतिष चन्द्रिका - पं० गंगाप्रसाद,मेरठ संवत् १९९२ ई०

ज्योतिष तत्व प्रकाश - पं० लक्ष्मीकान्त कन्याल लखनऊ १९३१ ई०

ज्योतिष सारसंग्रह - संकलन गोहाटी १९६४ ई०

ज्योतिष शब्दकोष - मुकुन्ददैवज्ञ गढ़वाल शक १८८९

ज्योतिषतत्वम् - पं० मुकुन्ददैवज्ञ गढ़वाल १९५५ ई०

ज्योतिर्गणितम् - श्री वेंकटेशरामकृष्ण बीजापुर शक १८५६

जैमिनी सूत्रम् - जैमिनी काशी संवत् १९६१

ताजिक नीलकण्ठी - नीलकण्ठ - वाराणसी १९७९ ई०

दैवज्ञ कामधेनु - वाराणसी १९०६ ई०

दैवज्ञ विनोद - पं० मनीराम जी शर्मा- बम्बई संवत् १९८६ ई०

देवज्ञाभरण - पं० लक्ष्मीनारायण उपाध्याय, मद्रास १९५४ ई०

देवज्ञ कल्पद्रुम - पं० गंगाराम, इण्डियन प्रेस प्रयाग

देवज्ञवल्लभा - वराहमिहिर, दिल्ली १९८३ ई०

धर्मशास्त्र का इतिहास चतुर्थ भाग - पी० वी० काणे, लखनऊ १९७३ ई०

नारद संहिता - नारद - खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई संवत् १९६३ ।

पञ्चसिद्धान्तिका - वराहमिहिर, वाराणसी १९६८ ई०

प्राचीन भारत का इतिहास - डा० विमलचन्द्र पाण्डेय, मेरठ १९७६ ई०

प्रश्नमार्ग - सम्पादक डा० शुकदेव चतुर्वेदी, दिल्ली १९७८ ई० ।

प्राचीन भारत का इतिहास - ओमप्रकाश - दिल्ली

पूर्वकालामृतम् - कालिदास

फलदीपिका - मन्त्रेश्वर, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६६ ई० ।

बार्हस्पत्यसंहितायाः सम्पादनम् - सम्पादनम् अनुसन्धाता मोहन उपाध्याय दकाल वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७२ ई० ।

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त - ब्रह्मगुप्त - न्यू देहली १९६६ ई०

बृहज्जातकम् - वराहमिहिर टीकाकार- अच्युतानन्द झा, वाराणसी १९८१ ई० ।

बृहज्जातकम् - दशाध्यायी नौका टीका बम्बई १९६९ ई०

बृहज्जातकम् - टीकाकार पं० रामयत्न अवस्थी, लखनऊ १९७२ ई० ।

बृद्धयवनजातकम् - बृद्धयवन बम्बई १९५३ ई०

बृहत्पाराशर होराशास्त्रम् - पाराशर वाराणसी संवत् २०३८

बृहत्संहिता - वराहमिहिर, वाराणसी संवत् २०१५

बृहत्संहिता भट्टोत्पलविवृति - सम्पादक पं० अवधविहारी त्रिपाठी, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय शक १८९०

बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् - श्रीमद्रामदीन दैवज्ञ, वाराणसी १९८४ ई०

भविष्यपुराण - वेदव्यास - बम्बई प्रेस

भद्रबाहुसंहिता - भद्रबाहु बम्बई संवत् २००५

भगण समीक्षा - डा० दामोदर झा, पंजाब १९७५ ई०

भारतीय ज्योतिष - डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली १९८३ ई०

भावकुतूहलजातकम् - दैवज्ञ जीवनाथ, विश्वेश्वर प्रेस, काशी

भारतीय ज्योतिषशास्त्र का इतिहास - गोरखप्रसाद - लखनऊ १९७४ ई०

भारतीय ज्योतिष - शंकरबालकृष्णदीक्षित, लखनऊ १९७५ ई०

भारत की संस्कृति एवं कला - राधाकमल मुकर्जी, दिल्ली १६५६ ई०

भाभ्रमरेखा-निरूपणम् - सुधाकर द्विवेदी काशी १६३३ ई०

भास्वती - श्री शतानन्द, वाराणसी १६१७ ई०

भृगुसूत्रम् - भृगु, दिल्ली १६८१ ई०

भृगुसंहिता - भृगु पाण्डुलिपि ३६६८३ गंगानाथ झा विद्यापीठ, इलाहाबाद

मध्यप्रदेशानां संस्कृतावदानम् - बिलासपुर २०, २१ जून १६८६

मयूरचित्रकम् - वराहमिहिर-पाण्डुलिपि १३४६२ गंगानाथ झा विद्यापीठ इलाहाबाद

महासिद्धान्त - आर्यभट द्वितीय बनारस १६१० ई०

मयमतम् - मयमुनि- त्रिवेन्द्रम् १६१६ ई०

माण्डव्यसंहिता - माण्डव्य

मातङ्गलीला - श्रीनीलकण्ठ त्रिवेन्द्रम् १६१० ई०

महाभारत - वेदव्यास, गीताप्रेस गोरखपुर

मानसागरी - व्याख्याकार मधुकान्त झा, वाराणसी १६७७ ई०

मुहूर्तचिन्तामणि - रामदैवज्ञ मथुरा चतुर्थ संस्करण

मुहूर्तपारिजात - पं० सोहनलाल व्यास, वाराणसी संवत् २०२७

मुहूर्तप्रकाश - वैद्य चतुर्थीलाल बम्बई संवत् २००८

यवन जातकम् - पाण्डुलिपि ८६११ गंगानाथ झा विद्यापीठ, इलाहाबाद

योगयात्रा - वराहमिहिर, कानपुर संवत् १९६४

युक्तिकल्पतरु - महाराज श्रीभोज कलकत्ता १९१७ ई०

राजतरङ्गिणी - कल्हण, पंडित पुस्तकालय, वाराणसी

लग्नचन्द्रिका - काशीनाथ मिश्र, मथुरा संवत् २०१९

लघुजातकम् - वराहमिहिर, वाराणसी संवत् २०२५

लीलावती - भास्कराचार्य, वाराणसी १९७६ ई०

लोमश संहिता पाण्डुलिपि १४७४७ गंगानाथ झा विद्यापीठ, इलाहाबाद

वटेश्वर सिद्धान्त - वटेश्वराचार्य,नई दिल्ली १९६२ ई०

वशिष्ठ संहिता - वशिष्ठ, बम्बई संवत् १९७२

वराहमिहिरहोराशास्त्रम् वायलूम १ - सम्पादक ए० एन० श्रीनिवास राघव अय्यङ्गर १९५१ ई० ।

वाराही (बृहद्)संहिता - वराहमिहिर टीकाकार बलदेवप्रसाद मिश्र बम्बई संवत् २०१२

वाल्मीकीय रामायण - गीताप्रेस गोरखपुर

वास्तुरत्नावली - श्री जीवनाथ शर्मा, वाराणसी १९४९ ई०

वास्तुरत्नाकर - श्री विंध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, बनारस १९५५ ई० ।

वस्तुसमीक्षा - श्रीमधुसूदन ओझा, जयपुर संवत् २००८

विद्यामाधवीयम् - विद्यामाधव मैसूर १९२३ ई०

विष्णु धर्मोत्तरपुराण - वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई १९१२ ई०

विमण्डल चक्र विचार - पं० दयानाथ झा मिथिला १३६१फसली

वेदाङ्गज्योतिष - श्री सुधाकर द्विवेदी भाष्यकार, वाराणसी १९०८ ई०

शुद्रकाव्य - मातृगुप्त

शिष्यधीवृद्धितन्त्र - आचार्यलल्ल काशी १८८६ ई०

शुद्धिदीपिका - श्रीनिवास बम्बई संवत् १९६३

षट्पञ्चाशिका - पृथुयश वाराणसी १९८३ ई०

षड्वर्गफलप्रकाश - मुकुन्दवल्लभ वाराणसी १९८१ ई०

संस्कृतशास्त्रों का इतिहास - बलदेव उपाध्याय- वाराणसी

सर्वानन्दकरणम् - श्री गोविन्दगणक उज्जयिनी १९३१ ई०

संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा० सत्यनारायण पाण्डेय, मेरठ

संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास - डा० सूर्यकान्त, नई दिल्ली

साम्बपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन - डा० चन्द्रदेव पाण्डेय, इलाहाबाद १९८६ ई०

सिद्धान्तशिरोमणि - भास्कराचार्य, वाराणसी १९६४ ई०

सिद्धान्त तत्वविवेक - कमलाकरभट्ट- काशी १८८५ ई०

सिद्धान्त सार्वभौम - श्री मुनीश्वर, बनारस १९३२ ई०

सूर्यसिद्धान्त - व्याख्याकार कपिलेश्वरशास्त्री, वाराणसी संवत् २०३५

सारावली - कल्याण वर्मा, वाराणसी १९८१ ई०

श्रीमद्भागवतपुराण - वेदव्यास, गीताप्रेस गोरखपुर

हिस्ट्री आफ इण्डिया - मीडोज टेलर

हिन्दू सुपरियारटी - हरबिलास शरद

होरारत्नम् - पं० बलभद्रमिश्र, वाराणसी १९७६ ई०

होराशास्त्रम् - रुद्र, वाराणसी १९७५ ई०

- ० -